# इन्द्रप्रस्थ भारती

## प्रवेशांक

# हिन्दी अकादमी, दिल्ली की योजनाएँ व कार्यक्रम

१. साहित्यकार सम्मान
२. साहित्यकार आर्थिक सहयोग
३. साहित्यिक कृति पुरस्कार
४. रचनात्मक लेखन/साहित्य सृजन के लिए आर्थिक सहायता/वित्तीय अनुदान
५. हिन्दी स्वयं-सेवी संस्थाओं/संगठनों आदि को आर्थिक सहायता/वित्तीय अनुदान
६. लघु पत्र-पत्रिकाओं आदि को आर्थिक सहायता/वित्तीय अनुदान
७. शोध छात्रवृत्ति, (दिल्ली के साहित्य अथवा लोक-साहित्य पर)
८. नवोदित लेखक पुरस्कार प्रतियोगिता
९. छात्र पुरस्कार
१०. साहित्यिक गोष्ठियाँ/सम्मेलन/प्रदर्शनी
११. शिक्षा गोष्ठी/शिक्षा सम्मेलन
१२. गणतंत्र दिवस कवि सम्मेलन
१३. स्वाधीनता दिवस कवि सम्मेलन
१४. राजभाषा सम्मेलन
१५. वृहद् साहित्यिकार सम्मेलन
१६. हिन्दी स्वयं-सेवी संस्थाओं का सम्मेलन
१७ मासिक 'साहित्यिक' कार्यक्रम
१८. हिन्दी दिवस/सप्ताह का आयोजन
१९. हिन्दी के प्रमुख लेखकों, कवियों आदि के जन्मदिन अथवा साहित्यकार जयन्ती का आयोजन
२०. 'उभरते-स्वर'—युवा कवि सम्मेलन
२१. शिक्षक कवि सम्मेलन
२२. प्रोत्साहन प्रतियोगिताओं—निबन्ध, सुलेख, टाइप, आशुलिपि, वाद-विवाद आदि का आयोजन
२३. बाल कवि सम्मेलन
२४. एकता गीत प्रतियोगिता (स्कूली छात्रों के लिए)
२५. स्कूल व कॉलिजों में संयुक्त व प्रायोजित कार्यक्रम
२६. भाषा विभाग के साथ संयुक्त कार्यक्रम
२७. उर्दू व पंजाबी अकादमियों के साथ भाषायी एवं राष्ट्रीय एकता पर आधारित संयुक्त कार्यक्रम
२८. हिन्दी स्वयं-सेवी संस्थाओं के साथ संयुक्त एवं सहयोगी कार्यक्रम
२९. रेडियो व दूरदर्शन पर प्रायोजित कार्यक्रम
३०. 'दिल्ली साहित्यकार निर्देशिका' का प्रकाशन
३१. 'हिन्दी मैनुअल' का प्रकाशन

शेष आवरण पृष्ठ ३ पर

# इन्द्रप्रस्थ भारती

हिन्दी अकादमी की त्रैमासिक साहित्यिक पत्रिका

संपादक
**डॉ० नारायणदत्त पालीवाल**

सहायक संपादक
**हरिसुमन बिष्ट**

---

संपर्क : सम्पादक, हिन्दी अकादमी, दिल्ली, ए-२६/२७, सनलाइट इंश्योरेंस बिल्डिंग, आसफ अली रोड, नई दिल्ली-११०००२।

**इन्द्रप्रस्थ भारती**

**अंक १ (प्रवेशांक) जनवरी-फरवरी-मार्च १९८८**

इस पत्रिका में व्यक्त विचार रचनाकारों के अपने हैं। इनसे सम्पादक की नीतियों व विचारों का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

© सुरक्षित

आवरण सज्जा : **हरिप्रकाश त्यागी**

चित्र : **अभय शर्मा**

**शुल्क** : एक प्रति : **पाँच रुपये**, वार्षिक : **बीस रुपये**। वार्षिक ग्राहक बनने के लिए शुल्क,
**सचिव,**
**हिंदी अकादमी, दिल्ली**, ए-२६/२७, सनलाइट इंश्योरेंस बिल्डिंग, आसफ अली रोड,
नई दिल्ली-११०००२ को भेजें।

सम्पादकीय : ४
संदेश : ५
**कहानियाँ :** रेल चली / **रमेश बतरा** / १३
स्मृतियों के समन्दर में / **बलराम** / २२
दूत / **मंजुल भगत** / २८
जिंदगी का आखिरी कथानक / **ज्ञानप्रकाश विवेक** / ४४
**लेख :** सच्चिदानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' / **प्रो. विजयेन्द्र स्नातक** / ५३
महादेवी नमोस्तुते / **गोपालप्रसाद व्यास** / ५८
तुम्हीं सो गये लोरियाँ गाते गाते / **डॉ. शेरजंग गर्ग** / ७२
नाटककार लाल : व्यक्तित्व और कृतित्व / **डॉ. जयदेव तनेजा** /७८
राष्ट्रभाषा : एक चिन्तन-यात्रा / **डॉ. गोपाल शर्मा** /८३
**कविताएँ : जगदीश गुप्त** / ९०
**रामदरश मिश्र** / ९६
**रमेशचन्द्र शाह** / ९८
**ब्रजेन्द्र त्रिपाठी** / १००
**राजेन्द्रप्रसाद पाण्डेय** / १०५
**एकांकी :** मरण-त्यौहार / **विष्णु प्रभाकर** / १०७
**व्यंग्य :** पुरस्कृत होने का मतलब / **प्रदीप पंत** / ११४
चले थे सेवाराम जी विधवा आश्रम खोलने / **डॉ. रूपनारायण शर्मा** / ११८
घाट के पंडे / **सुरेश कांत** /१२१
**अनुवाद :** ओड़िया कवि **डॉ. सच्चिदानन्द राउतराय** की कविताएँ / १२५
दिल ही तो है न संग (उर्दू कहानी) / **नाहिद अतहर** / १२९
अपना अपना हिस्सा (पंजाबी कहानी) / **बरियामसिंह संधू** / १३३
**यात्रा-वृतांत :** तिरुपति ने देखा तो होगा / **डॉ. र. श. केलकर** / १३८
**पुस्तकें :** पॉकिट बुक श्रृंखला में नया दुस्साहस / **कन्हैयालाल नन्दन** / १४५
बस्ती में मानुस-गंध खोजती एक औरत / **राजकुमार गौतम** / १४७
**हिंदी सेवी संस्था :** केन्द्रीय हिंदी निदेशालय के कार्यकलाप / **राजमणि तिवारी** / १५२

दिल्ली में हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रचार-प्रसार एवं इसके विकास संवर्द्धन तथा परिरक्षण के उद्देश्य से हिन्दी अकादमी की स्थापना की गई। अकादमी अपनी योजनाओं, कार्यक्रमों और विविधि गतिविधियों के माध्यम से हिन्दी भाषा और साहित्य की सेवा करती आ रही है। इसी दिशा में साहित्यिक लक्ष्य लेकर अकादमी द्वारा 'इन्द्रप्रस्थ भारती' नाम से त्रैमासिक पत्रिका प्रकाशित करने की योजना को कार्यरूप दिया गया है। प्रवेशांक हिन्दी जगत को समर्पित है।

हिन्दी भारतीय सभ्यता, संस्कृति और गौरव की सहजवाहिका के रूप में सदा इस देश को जोड़ती आई है। इस बहुभाषी देश में हमारे लिए सभी भाषाएँ आदरणीय हैं। आज जहाँ जन-जन की आशाओं और आकांक्षाओं के अनुकूल हिन्दी का वातावरण बनाने की आवश्यकता है वहीं भावनात्मक एकता, पारस्परिक सद्भाव तथा सांस्कृतिक और साहित्यिक आदान-प्रदान के साथ-साथ भाषायी तालमेल और भाषायी संस्कृतिक के विकास को महत्व देने की आवश्यकता भी है। यह पत्रिका इसके प्रति भी जागरूक रहेगी।

वर्ष १९८७ में हिन्दी जगत को बड़े आघात सहने पड़े। 'अज्ञेय' के रूप में आधुनिक साहित्य जगत का मजबूत स्तम्भ गिर गया। महादेवी वर्मा के निधन से साहित्य जगत को आलोकित कर रही दीपशिखा बुझ गई। भारत माँ की लोरी गाने वाले ओजस्वी कवि देवराज 'दिनेश' हम से छिन गये। रंगमंच के चमकते हुए नक्षत्र डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल साहित्याकाश से अचानक लुप्त हो गये। दिवंगत साहित्यकारों को हिन्दी अकादमी श्रृद्धांजलि अर्पित करती है।

प्रवेशांक में चार कहानियाँ, पाँच लेख, दस कविताएँ, एक एकांकी, तीन व्यंग्यलेख, पुस्तकों पर सम्पूर्ण लेख, एक यात्रा वृतांत और केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय की गतिविधियों पर एक लेख के साथ-साथ भारतीय भाषाओं से अनुवाद—ओड़िया के लब्धप्रतिष्ठ कवि डॉ. सच्चिदानन्द राउतराय की तीन कविताएँ तथा उर्दू, पंजाबी की एक-एक कहानी भी दिये जा रहे हैं। प्रवेशांक कैसा लगा आपके सुझाव की अपेक्षा है।

नववर्ष की शुभ कामनाओं के साथ।

नरेश प्रसाद शास्त्री

**शंकर दयाल शर्मा**

उप-राष्ट्पति, भारत

नई दिल्ली

जनवरी 6, 1988

"संदेश"

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि हिन्दी अकादमी, दिल्ली "इन्द्रप्रस्थ भारती" नामक एक त्रैमासिक हिन्दी पत्रिका प्रकाशित करने जा रही है । मैं इस पत्रिका की सफलता के लिये अपनी हार्दिक शुभकामनाएं भेजता हूं ।

शंकर दयाल शर्मा

(शंकर दयाल शर्मा)

**हरकिशन लाल कपूर**
उपराज्यपाल, दिल्ली
राजनिवास
दिल्ली-110054

## शुभकामना-संदेश

मुझे यह जानकर बड़ा हर्ष हो रहा है कि हिन्दी अकादमी "इन्द्रप्रस्थ भारती" नाम से एक त्रैमासिक साहित्यिक पत्रिका का प्रकाशन कर रही है। मुझे आशा है कि इस पत्रिका में हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रचार तथा प्रसार के लिए तो उपयुक्त सामग्री होगी ही, हमारे देश के प्राचीन साहित्य-कारों, लेखकों, विद्वानों तथा साहित्यिक विभूतियों के व्यक्तित्व और कृतित्व पर भी सामग्री दी जायेगी जिससे हमारी युवा-पीढ़ी को उनके संदेशों से प्रेरणा मिल सके।

मैं अकादमी के इस कार्य की सराहना करते हुए पत्रिका की सफलता के लिए अपनी शुभकामनायें देता हूँ।

हरकिशन लाल कपूर

(हरकिशन लाल कपूर)

सत्यमेव जयते

पुरुषोत्तम गोयल

अध्यक्ष

महानगर परिषद, दिल्ली

हिन्दी भाषा व साहित्य को समर्पित इन्द्रप्रस्थ भारती हिन्दी अकादमी का नूतन प्रयास है । "इन्द्रप्रस्थ भारती" हिन्दी के व्यापक, विराट रूप को उजागर करे, हिन्दी के माध्यम से दिलों को जोड़े, भाषा भारती व साहित्यकार को और ऊंची गरिमा दे व समाज के प्रति "कलम" को अपने उत्तरदायित्व को निभाने की क्षमता व प्रेरणा दे ताकि जन-साधारण का विश्वास पुनः प्रबुद्ध वर्ग में प्रतिस्थापित हो ।

25-1-88

(पुरुषोत्तम गोयल)

जग प्रवेश चन्द्र
मुख्य कार्यकारी पार्षद
दिल्ली प्रशासन,
दिल्ली

## संदेश

मुझे यह जानकर बड़ा हर्ष हुआ कि हिन्दी अकादमी इन्द्रप्रस्थ भारती नामक त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन कर रही है । मुझे आशा है कि इस पत्रिका के माध्यम से अकादमी जहाँ हिन्दी के प्रचार और प्रसार की गतिविधियों को बढ़ावा देगी वहीं अपने उद्देश्यों में भी सफल हो सकेगी । मैं इस कार्य की सराहना करते हुए पत्रिका की सफलता की कामना करता हूँ और अपनी हार्दिक शुभकामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

Jag Parvesh Chandra

(जग प्रवेश चन्द्र)

**बंसी लाल चौहान**
कार्यकारी पार्षद (स्वास्थ्य)
दिल्ली प्रशासन, दिल्ली

दिल्ली, दिनांक 28-12-87

## सन्देश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि हिन्दी अकादमी के द्वारा शीघ्र ही "इन्द्रप्रस्थ भारती" के नाम से एक त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया जा रहा है । हिन्दी अकादमी हिन्दी के विकास तथा कार्यालयों एवं संस्थानों के कार्यकलापों में इसके उत्तरोत्तर प्रयोग के लिए एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है । वस्तुतः किसी भी देश की भाषा उसके सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का दर्पण होती है । हिन्दी के बारे में हमारी पुरातन मान्यता है कि यह एक सशक्त, समृद्ध तथा जन-सम्पर्क भाषा रही है । इससे परिलक्षित होता है कि हम भाषायी तौर पर कितने संगठित एवं समृद्ध रहे हैं ।

आपके नवोदित "इन्द्रप्रस्थ भारती" के प्रकाशन से निश्चय ही हम आने वाली पीढ़ी को देश के प्राचीन काल के अपने सांस्कृतिक, भौगोलिक एवं सामाजिक मूल्यों से अवगत करा सकेंगे ।

हिन्दी भाषा एवं साहित्य को पूर्णतया समर्पित इस नव प्रकाशित त्रैमासिक के उज्जवल भविष्य के प्रति मेरी शुभकामनाएं हैं ।

बंसीलाल चौहान

(बन्सी लाल चौहान)

**कुलानन्द भारतीय**

कार्यकारी पार्षद (शिक्षा)

दिल्ली प्रशासन, दिल्ली

## संदेश

मुझे यह जानकर अपार हर्ष हुआ कि हिन्दी अकादमी दिल्ली द्वारा एक साहित्यिक पत्रिका "इन्द्रप्रस्थ भारती" का प्रकाशन आरम्भ किया जा रहा है ।

हिन्दी अकादमी हिन्दी भाषा एवं साहित्य के प्रचार व प्रसार के लिए बड़ा सराहनीय कार्य कर रही है । इस पत्रिका का प्रकाशन हिन्दी भाषा एवं साहित्य के प्रचार एवं प्रसार में एक और प्रशंसनीय प्रयास होगा ।

इस पत्रिका के माध्यम से अकादमी को राजधानी के विद्वानों साहित्य सेवियों और हिन्दी के प्रचार व प्रसार में लगी हुई साहित्य सेवी संस्थाओं का सहयोग एवं योगदान भी प्राप्त होगा । मुझे आशा है पत्रिका में प्रकाशित सामग्री पाठकों को हिन्दी भाषा व साहित्य की और अधिक सेवा करने के लिए प्रेरित करेगी ।

मैं इस पत्रिका के सफल प्रकाशन की कामना करते हुए अपनी हार्दिक शुभ कामनायें प्रेषित करता हूँ ।

(कुलानन्द भारतीय) 30.11.5

**प्रेम सिंह**
कार्यकारी पार्षद (विकास)
दिल्ली प्रशासन, दिल्ली

## संदेश

मुझे यह जानकर अति प्रसन्नता हुई कि हिन्दी अकादमी, दिल्ली द्वारा "इन्द्रप्रस्थ भारती" नामक त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया जा रहा है ।

राष्ट्र भाषा हिन्दी के विकास एवं इससे संबद्ध साहित्यकारों को प्रोत्साहित करने में अकादमी गत वर्षों से प्रयत्नशील है और इस दिशा में अकादमी की सेवाएं प्रशंसनीय हैं ।

मैं हिन्दी अकादमी के इस नए प्रयास की पूर्ण सफलता की कामना करता हूं ।

(प्रेम सिंह)

कौशल कुमार माथुर
मुख्य सचिव
दिल्ली प्रशासन, दिल्ली

## संदेश

बड़े हर्ष का विषय है कि हिन्दी अकादमी "इन्द्रप्रस्थ भारती" नामक त्रैमासिक साहित्यिक पत्रिका का प्रकाशन कर रही है । भाषा और साहित्य के संवर्द्धन का दायित्व भी अकादमी पर है । इस दृष्टि से मुझे विश्वास है कि यह पत्रिका अकादमी के लक्ष्य को पूरा करने की दिशा में उपयोगी सिद्ध होगी ।

मैं अकादमी के इस कार्य की सराहना करते हुए पत्रिका की सफलता के लिए अपनी हार्दिक शुभकामनायें प्रेषित करता हूँ ।

(कौशल कुमार माथुर)

# रेल चली

□ रमेश बतरा

गाड़ी अब न जाने कहाँ से गुजर रही थी। डब्बे की भीड़ में अटा वह अपने-आप में पथराया हुआ-सा पड़ा था। एकदम सुन्न! बेसूरत! उसकी घिग्घी बँधी हुई थी। और वह समझ नहीं पा रहा था कि उसकी इस यात्रा का अंत कहाँ…किस स्थिति में होगा…वह तो स्टेशन से लौटकर चला जाना चाहता था किंतु उसे विवश करके जबरदस्ती गाड़ी में बैठा दिया गया था।

गाड़ी को सिलीगुड़ी छोड़े आठ घंटे हो चुके थे। उसका समूचा अस्तित्व अब तक पसीने से सराबोर हो रहा था। हवा नाम की किसी चीज का कहीं कोई अहसास नहीं बचा था। सिर्फ़ गाड़ी का शोर था या फिर बीच-बीच में सुनाई दे जाने वाली इंजन की कूक!

डब्बे की बत्तियाँ गुल थीं। लोग हिल-डुल तक नहीं पा रहे थे। बस, कुछ था तो इतना-सा एहसास ही बाकी था कि डब्बा हिल रहा है, गाड़ी चल रही है। उसके सामने ही टखने जोड़े बैठे बिहारी बूढ़े का शरीर गाड़ी की गति के साथ एक खास लय और धुन में काँप रहा था। बूढ़े को पानी की जरूरत थी और पानी, लखनऊ से पहले मिल सकने का कोई आसार दिखाई नहीं दे रहा था।

गाड़ी उसके लिए तट से असम्पृक्त पनडुब्बी की भाँति ग्रह गति से सागर की अथाह गहराइयों में भटक रही थी। कहीं कोई मार्ग नहीं, दिशा नहीं के भय के बावजूद उसने तनिक चौकन्ना होकर कोशिश करके डब्बे में चारों तरफ देखा और स्वयं को प्रस्तर मूर्तियों में घिरा जानकर अनायास ही सिर से गुजर चुके पानी को तरासने लगा।

दोपहर बाद स्टेशन पर वह गाड़ी छूटने से दो घंटे पहले ही पहुँच गया था। गाड़ी प्लेटफार्म पर नहीं लगी थी। पूछने पर पता लगा कि गाड़ी अभी यार्ड में ही खड़ी है। जगह घेरने के उद्देश्य से यात्री यार्ड की ओर जा रहे थे। इसलिए वह भी सबके साथ यार्ड की तरफ चल पड़ा।

यार्ड में प्लेटफार्म से भी ज्यादा भीड़ थी। पहले से ही खचाखच ठुँसी हुई गाड़ी देख उसे लगा, वह तो कई घंटे देर से पहुँचा है। इस अनुमान से तो उसे सुबह ही पहुँच जाना चाहिए था। फिर भी उसे कुछ इस प्रकार का चैन मिला मानो बहुत देर से पहुँचने पर भी गाड़ी प्लेटफार्म पर खड़ी मिली हो और गंतव्य स्थान पर पहुँचने के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए उसने शुकर मनाया कि अब खड़े या बैठे कैसे भी सही? ठीक समय पर पहुँच तो जायेगा।

उसने बैग को बायें कंधे से उतार कर दाहिने कंधे पर लटका कर उसे पीठ पर टिका लिया और बड़े उत्साह से जगह ढूंढ़ने लगा।

सभी डब्बों में यात्री भेड़ों से भी बदतर हालत में एक-दूसरे पर लदे हुए थे। वह पहले डब्बे से लेकर आखिरी डब्बे तक पूरी गाड़ी के तीन चक्कर काट कर भी निर्णय नहीं ले पाया कि किस डब्बे में चढ़े, तो कैसे चढ़े। दरवाजों पर से कोई तिल-भर भी सरकने को तैयार नहीं था। बाकी यात्री थे कि पहले चढ़ जाने की होड़ में दूसरे यात्रियों के सिरों पर से कूदते-फाँदते हुए डब्बों में धँसते जा रहे थे···और डब्बे थे कि यात्रियों को निगल रहे थे।

वह उस रेल-पेल में धींगामुश्ती करने, न करने की दुविधा में पड़ा गाड़ी की बराबर वाली पटरी पर खड़ा बगलें झाँकने लगा।

"—तुमको इसी रेल से जाना है?" अचानक वहाँ से गुजरता एक युवक उसके समीप आकर रुक गया।

"—हाँ, जाना तो है।"

"—रेल अबी प्लेटफार्म पर निकल जायेगा, वहाँ जगह नहीं मिलने का। कोई दरवाजा बी नहीं खोलेगा।"

"—जगह देख रहा हूँ···कहीं कुछ नजर भी तो आये।"

"नजर-वजर कुछ नहीं आने का···कहीं भी सटक जाओ।"

"—कहाँ सटक जाऊँ, कोई रास्ता नहीं देता।"

"—रास्ता तो बनाने से बनेगा।"

"—तो तुम्हीं कुछ मदद करो न!"

"—आओ मेरे साथ···आओ···जल्दी चलो···बस इसी डब्बे में बैठाता हूँ···थोड़ा आगे हो जाओ···और आगे···खिड़की पकड़ लो···पंजों के बल पंजों के···अब उछलो···बैग संभालो अपना···फेंक दो खिड़की से अंदर···कोई नहीं लेता इसे···पीछे मत देखो···गिरोगे···हाथ डाल लो खिड़की के अंदर···जोर से पकड़ लो···अब थोड़ा कुदो·· थोड़ा और···।" और देखते ही देखते युवक ने उसे उछालकर खिड़की के रास्ते डब्बे में धकिया दिया, मानो वह हल्का-सा बोरा ही हो।

डब्बे में वह मुँह के बल गिरा। वहाँ इस समय भी अँधेरा हो रहा था। आँखें फाड़-फाड़ कर देखने की कोशिश करने पर भी उसे सिवाय यात्रियों की खचर-पचर और कुल मिलाकर कई कर्कश ध्वनियों के कुछ सुनायी नहीं दिया। बाहर से भेड़ों की तरह गिचपिचे यात्री अब उसे माल-गोदाम में भरे हुए बोरों की भाँति प्रतीत हो रहे थे।

डब्बे में लिजलिजी सीलन भरी उमस फूट रही थी। उसमें भरी भयावह भीड़ के पसीने की दुर्गन्ध और दीवारों तथा सीटों पर से लोगों के कपड़ों तक फैल आयी चिपचिपी तारपीन की दुर्गन्ध उसके नथुनों में इस बेतरतीबी से घुस गयी कि उसका जी मितलाने लगा। वह घबड़ा गया कि उसे मितली हो आयेगी। बेतरह सटे पड़े यात्रियों के बीच गंदगी फैलाने का मतलब था कि अपनी नजर से अलग उनकी नजर में भी हेय होकर अकारण ही घृणास्पद हो जाना। जबकि वे उसे पहले ही बाहर धकेलने पर उतारू थे। एक देहातिन ने तो उसे परे धकेलते हुए उसके बाल ही नोंच लिये थे।

उसे अपने गाँव का गितवाड़ा, जहाँ पशु बँधे रहते थे, अपनी तमाम विशेषताओं के साथ

याद हो आया । उसका समस्त उत्साह उछलने लगा । पंजाब की ओर लौटने की सुखद अनुभूति में उसके चेहरे पर छाया समुद्र-सा उछाल एकाएक बेवसी और बदहवासी में बदलकर स्याह कालिख-सा पुत गया ।

वह मितली रोकने की कोशिश करने लगा । उसके शरीर में ठंडी मगर तेज चिंगारियाँ चिनचिनाने लगी । वह अपने आप में दहल-सा गया । उसे लगा, उसके शरीर पर फफोले उगने शुरू हो गये हैं और वह भी ठीक बिल्ली के उस बिलूंगड़े की तरह तड़प रहा है, जिसे पिछले दिनों उसके पड़ोसी के बच्चों ने जीवित ही खौलते तेल में डालकर तलना शुरू कर दिया था ।

अभी तक वह एक टाँग पर खड़ा था । उसकी कँपकँपी छूट गयी और उसका हाथ डब्बे की दीवार से फिसलकर उसकी टाँगों से सटकर बैठे बिहारी बूढ़े के सिर पर जा पड़ा । बूढ़ा उसे भोजपुरी में गालियाँ देने लगा । वह साहस करता तो उसकी एक ही घुड़की बूढ़े को चुप कर देने के लिए काफी रहती । मगर वह भयभीत-सा मौन ही खड़ा रहा । इसलिए बात जल्दी ही आयी-गयी हो गयी । अन्यथा वह जरा भी न-नुचर करता तो मारपीट हो जाती ।

खड़े-खड़े उसे अपना वहाँ होना बड़ा अजीब-सा लगने लगा । ढेर से मुसाफिरों के बीच भी वह खुद को बहुत खाली-खाली महसूस कर रहा था । वह कहाँ आ फँसा है या फँसा दिया गया है में अंतर करते हुए उसे अपना वहाँ होना भी न होना जैसा ही लगा । उसने गाड़ी पकड़नी थी और पकड़ भी ली है, फिर भी वह बेचैन था जैसे कोई काम अधूरा रह गया हो ।

तुरंत ही उसे ध्यान आया कि जल्दी में आज वह अपना वजन करना भूल गया है। अपनी हर यात्रा शुरू और खत्म करते हुए वह स्टेशन की भार तोलने वाली मशीन पर वजन करके देखता है कि इस बीच कितना वजन बढ़ा या कम हुआ है'''और फिर इसी अनुपात से इसे एक मान्यता की तरह लेते हुए निश्चित करता है कि उसकी यात्रा कितनी सुखद रही और कितनी दुखद ।

उसका दिल हुआ कि बैग को वहीं किसी के पास छोड़कर जाये और वजन कर आये । पर दरवाजों तक पलस्तर की भाँति जुड़े हुए यात्रियों वाला रास्ता देखकर उसका हौसला पस्त हो गया । यह काम लखनऊ तक के लिए टालकर वह मन-ही-मन उस युवक को दुआएं देने लगा कि उसने कृपा करके उसे खिड़की के रास्ते अंदर पहुँचा दिया, वरना वह तो यार्ड में ही खड़ा रह जाता । उसने ईश्वर का भी धन्यवाद किया कि उसे सौंकिया पहलवान-सा शरीर दिया है, तो आड़े वक्त पर उसकी सहायता के लिए कोई उपाय कर ही देता है ।

आँखें अब अँधेरे की अभ्यस्त हो चली थीं । और अब धीरे-धीरे अँधेरा जैसे उघड़ रहा था । उसने राहत की साँस ली और पीछे वाले यात्री को थोड़ा खिसका कर अपना बायाँ कंधा डब्बे की दीवार से टिका लिया । तब टाँग को थोड़ा आराम देने की खातिर उसने एक पाँव उठाकर अपना कुछ भार चिपचिपी दीवार और शेष दूसरी टाँग पर डाला ही था कि एकाएक यात्री अपनी-अपनी जगह से खिसकने लगे । उनमें हफरा-तफरी-सी मच गयी । कुछेक तो दुबकने की कोशिश में अपने पीछे वालों पर गिर भी पड़े । उसने उनकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया । बल्कि अवसर पाकर दूसरा पाँव भी फर्श पर रख पूरी पीठ दीवार पर टिकाता सोचने लगा कि अब बैग नीचे रखकर उस पर बैठने की जगह भी बन जाये, तो सफर कुछ आराम से कट जायेगा ।

इसी मंतव्य से उसने दाहिना पाँव बूढ़े बिहारी की गठरी के तले में जमाकर उसे सरकाते-सरकाते कनखियों से बूढ़े की ओर देखा तो चौंक गया। बूढ़ा और अन्य यात्री घबराये हुए-से हैरान खड़े थे।

उसने देखा, मुस्टंडा-सा लग रहा एक शोहदा काली-सफेद धारीदार बनियान और पीला तहमद बाँधे भीड़ को छाँटता हुआ उसी की ओर बढ़ा चला आ रहा था। वह काला धूर्त और कद्दावर होने के कारण चेहरे से ही विकराल लग रहा था। उसके हाथ में खुला चाकू था और सूरत पर मक्कारी बिखरी हुई थी।

वह निर्वाक-सा उसे देखता रहा। वह शोहदा चाकू लहराता तेजी से चलकर उसके सामने आ खड़ा हुआ।

"—अबी खिड़की में से तू ही घुसा था इदर'''वो छोकरे की मदद से?"

"—क्यों क्या बात है?"

"—जो पूछता है उसी का जवाब दे'''तू ही था?"

"—मैं ही था'''कहो?"

"—तू क्या समझता है अपने तेरे को इस्पीच सुनायेगा। दो टूक बात बोलेगा, जो कुछ भी पास में है निकालकर मेरे हवाले करो।"

"—क्या मतलब?"

"—मतलब यह होता है।" शोहदे ने क्रूरता से उस्तरे की तरह चाकू अपनी खुरदरी हथेली पर फिरा दिया।

"—मेरे पास तो कुछ नहीं है।"

"—बात मत बना। जल्दी कर नहीं तो हड्डियाँ चटखा दूँगा चिलगोजे की।"

उसने अगल-बगल यात्रियों को याचना-भरी आँखों से देखा। वे सब गुमसुम खड़े थे।

"—सुनाई देता है के बहरा है?" शोहदा चिल्लाया।

"—मैं गरीब आदमी हूँ भाई," वह गिड़गिड़ाया—"मेरे पास कुछ भी नहीं है।"

"—फिर बात बनाता है हरामी!" शोहदे ने चाकू वाला हाथ उल्टा करके उसके मुंह पर दे मारा।

"भले मानसी से निकाल दे नहीं तो पलीता कर दूँगा तेरा तो।"

उसने एक बार फिर पुतलियाँ घुमाकर यात्रियों की ओर देखा। वे उसी तरह चुप और उदास खड़े थे।

यह सोचकर कि शोहदा कुछ न कुछ लिये बिना उसको नहीं छोड़ेगा, वह पतलून की पिछली जेब में हाथ डालते ही अवाक् रह गया। जेब खाली थी, और यकीनन उस समय खाली हुई थी जब दो बलिष्ठ हाथों ने उस पर कृपा करके उसे खिड़की के रास्ते डब्बे में उछाल दिया था।

फिर भी इस ख़्याल से कि अभी उसकी दूसरी जेबों में काफी पैसे हैं, शोहद के चाकू की नोक पर होते हुए भी उसे कहीं संतोष-सा महसूस हुआ कि पत्नी ने उसे एक अच्छी आदत डाल रखी है। कहीं भी अंदर-बाहर जाते हुए वह अपने पैसे करीबन सभी जेबों में बाँट लेता है। एक कट जाये तो दूसरी जेब के पैसे राहत का काम करते हैं और दूसरी भी कट जाने पर तीसरी जेब के। आदमी बिल्कुल खट्टल नहीं होता।

पतलून की चोर जेब में उसके पास दो सौ और अगली तरफ दाहिनी जेब में साठेक रुपये अभी और थे। बैग में दसेक रुपये की रेजगारी भी थी, जो उसने मार्ग में सुविधा के लिए स्कूल में बच्चों से फीस लेते हुए खास तौर पर एकत्र कर ली थी।

"—ऐ-ए सोच क्या रहा है?" शोहदे ने उसे गिरेबान से पकड़कर झकझोर दिया—"निकालता है माल या छुट्टी कर दूँ छछूंदर की जान की?"

"—मेरी तो जेब कट गयी है भाई!" वह रिरियाया।

"—तू ऐसे नहीं मानेगा", शोहदे ने एक हाथ से उसका कंधा पकड़ कर उसे तनिक तिरछा कर दिया और दूसरे हाथ से अगली जेब में पड़े पैसे निकाल लिए।

वह बेदखल-सा हुआ खड़ा रह गया। किसी भी यात्री ने शोहदे का विरोध नहीं किया और शोहदा था कि उसने उसका पीछा नहीं छोड़ा।

अब केवल उसकी चोर जेब में ही कुछ पैसे थे। उन्हें बचाने की कोशिश में उसने कंधे पर लटके बैग को धीरे-धीरे जेब की ओर सरकाना शुरू कर दिया, ताकि जेब ढक जाये।

उसकी पतलून की अगली तरफ बगल वाली दूसरी जेब में अंबाला तक का टिकट, कुछ कागज और दो-तीन खत थे। इस बीच शोहदा वे सब निकाल कर उन्हें एकेक करके जाँचने लगा।

वह खड़ा-खड़ा सोचता रहा... कि लोग उसे पकड़ क्यों नहीं लेते। वे इस कदर भीरू क्यों हैं? क्यों स्वयं को परिस्थिति के सुपुर्द किए खड़े मुँह ताक रहे हैं? विरोध मानो उनके भीतर है ही नहीं, और जो थोड़ा-बहुत है भी, समय पड़ने पर कबूतर की तरह आँख मींच लेता है? और... वह खुद ही क्यों नहीं कुछ कर बैठता?

"—दिखा उस छुपोती जेब में क्या है?" शोहदे ने बैग के साथ-साथ उसे भी धकेल दिया।

वह फिर उसी बूढ़े बिहारी पर गिरने को हुआ। पर इस बार बूढ़े ने कुछ नहीं कहा।

"—जल्दी कर जल्दी," शोहदे ने फिर धमकी दी।

वह बैग के पीछे से जेब में हाथ डालकर टटोलने का अभिनय करने लगा और इस मन से कि सारे न सही रास्ते के गुजारे लायक पैसे तो बच जायें उसने दस-दस के पाँच-सात जितने भी नोट हाथ में आये, निकाल कर शोहदे की तरफ बढ़ा दिये।

"—हमसे पेट छुपाता है भूतनी के।" शोहदा थोड़े से नोट देखकर भड़क गया—"निकाल दे सबी कुछ नहीं तो अबी पेट फाड़कर खोपड़ी के बल संडास में जोत दूँगा घन-चक्कर को!"

उसने इस बार फिर चारों ओर खड़े यात्रियों को कातर दृष्टि से देखा। दूर तक केवल बुत ही बुत खड़े थे। आदिम काल की सजीव मूर्तियाँ!

"—जल्दी कर हरामी... या डंडा देने पर ही निकालेगा?" शोहदा चिल्लाता हुआ चाकू की नोंक उसकी बगल में गड़ाकर धीरे-धीरे दबाने लगा।

वह मारे दर्द के कराह पड़ा।

"—बचाओ भाई, कितना अन्याय हो रहा है... कोई बोलता क्यों नहीं?" उसने पाँव पकड़ने की हद तक लाचार होकर कहा।

"—खबरदार किसी ने कोई हरकत की तो..." शोहदा एड़ियों के बल घूमकर फिर उसके सामने खड़ा हो गया।

"—लगता है तेरी मौत इसी छुरी की धार पर लिखी है। बोल निकालता है माल के···" शोहदा हाथ पीछे ले जाकर चाकू उसके पेट में उतारने को ही था कि मारे दहशत के उसने बैग आगे कर दिया "—ठहरो !"

असहाय होकर उसने रहे-सहे पैसे भी शोहदे के हवाले कर दिये। पर वह फिर भी संतुष्ट नहीं हुआ। बराबर उसके सिर पर सवार रहा।

"—देख, अबी बाजू वाले डब्बे से चार सौ रुपया और घड़ी उतरवा कर लाया हूँ। तू डरामा मत कर। बाकी का माल भी चुपचाप इदर कर दे नहीं तो अगले पुल पर चलती गाड़ी में से नदी में धकेल दूँगा।"

"—अब मेरे पास कुछ नहीं है भाई, सिर्फ़ जान है और मेरी जान लेकर तुझे कुछ नहीं मिलेगा।"

"—बकबक मत कर। अपन यूँ ही छोड़ने वाला नहीं। लखनऊ तक पीछा करूँगा। तू क्या समझता है कनखजूरे के बच निकलेगा। अच्छी तरह सोच ले। मैं अबी आता हूँ, जरा एक आसामी और देखनी है। अबके मौका नहीं दूँगा, हाँ !"

"—हटो !" शोहदा पीछे मुड़ गया।

"यात्रियों ने उसके लिए मार्ग छोड़ दिया। वह बड़ी दबंगता से बाहर निकल गया।

उसकी टाँगें उसका भार वहन करने में असमर्थ होने लगीं। पाँव मस्तिष्क की गहरी यंत्रणा से जुड़ गये। सिर इतनी तेजी से चकराने लगा कि वह स्वयं भी नहीं समझ पाया कि यह सब क्या हो गया है और अब आखिर क्या सोच रहा है।

तेज धारदार अँठिची चाकू···बगल से रिसती लहू की बूँद···डब्बे की कबूतरनुमा भीड़···भागती हुई गाड़ी···लखनऊ तक पीछा···इंजन की बेगैरत चीख···खट खटाक-खटा-खट-खट···पुल···नदी···धड़ाम ! बर्दाश्त से बाहर होने पर उसने आँखें मूँद लीं।

"—पापा, मेले लिए हाथी मेले छाथी लेके आना दिल्ली छे !" टाटा करती बेटी का तुतलाता स्वर।

"—रास्ते में होशियार रहना और लखनऊ से ही चिट्ठी लिखना · फिर चंडीगढ़ से भी !" पत्नी की हिदायत।

उसकी हिचकी निकल गयी। पानी-पानी ! गरमी ! तपस ! दुर्गन्ध ! संडास ! घुटन ! हे भगवान अब क्या होगा ?

आँखें खोलने पर उसने पाया कि सभी यात्री उसके गिर्द तमाशबीनों की तरह जमा हो गये थे। हर कोई अपनी-अपनी राय दे रहा था। वह उनकी एक नहीं सुनना चाहता था। किंतु वे थे कि खुद-ब-खुद सुनाये जा रहे थे।

"—मोशाय, जीवन मनना हो तो दे दो सब निकालकर !"

"जान है तो जहान है। पैसा फिर आ जायेगा। क्यों लालच करते हो !"

"इसी में भलाई है। कुत्ते को हड्डी डालो और छुटकारा पाओ !"

"—माया से कैसा मोह, पैसा हाथ का मैल है और मैल शरीर को गंदा करने लगे तो उसे पोंछ देने में ही कल्याण है !"

"—ऐ का करत हो मरदवा, काहे को नाही देत रे···हमार भी लुटात हो का ?"

वह डरा हुआ था। ऊपर से ये लबड़-झवड़ सुनकर वह लाचार-सा रो दिया।

"इतने लोगों के बीच एक गरीब लुट रहा है और आप खेल समझकर देख रहे हैं। यह तो नहीं होता कि उसे पकड़ लो, पुलिस···बुलवा लो ?"

"पुलिस बुला लो," बूढ़ा बिहारी हिजड़ों की-सी तरज में उसे चिढ़ाकर बोला—"मासन झाड़त है···ऊ ससुरा तोहार जान भी लेब अउर हमार भी !"

"—तो खिड़की बंद कर दो न···वो नहीं आ पायेगा।"

वे सब फिर एक साथ उसके गले पड़कर कुड़कुड़ाने लगे।

"—सबकी नाड़ घोंट दो वैसे ही···खिड़की बंद करने की क्या जरूरत है।"

"—वैसे तो बड़ा बहादुर बनता है खुदरा।"

"—मर्द हो तो उसी की कलाई पे हाथ डालना। देख लेंगे तुम्हारा दम-खम भी।"

"—अबी आयेगा तोहार बाप अउर बतायेगा।"

"—हमारे साथ हुआ होता तो हम खुद देख लेते।"

उसका भेजा घूम गया। वह भी हालाँकि डरा हुआ था मगर प्रकट नहीं करना चाहता था।

"—तुम सब कायर हो !" चिल्लाने की कोशिश में उसकी आवाज खरखरा गयी।

"—तो तुमी रुस्तम बन के दिखाव न मरदवा ?"

"—पंजाब में ऐसा हुआ होता तो लोग उसकी बोटी-बोटी चीर देते !"

"—ओ पंजाबी की औलाद···जब तू पिटेगा हमसे भी।"

"—तुम सब उसके साथ मिले हुए हो ! वह हारे हुए जुआरी की तरह धृष्ट हो गया।

"—तो कर ले क्या करता है हमारा ?"

"—मारो बेईमान को !"

"एकंचा रेपटा भी पड़ गया तो थोबड़ा बोल जायेगा सुलतान का !" चेतावनी देता एक गंवई उस पर हाथ उठाने को ही था कि तभी शोहदा खिड़की के रास्ते डब्बे में घुसता दिखाई दिया। नीचे पटरी पर उसको मिला वही युवक उसे पीछे से सहारा दे रहा था···

डब्बे में पलक झपकते ही सार्वजनिक चुप्पी छा गयी। सभी यात्री फिर से जड़ हो गये मानो उनके प्राण शोहदे के शरीर में जा समाये हों। उन्होंने उसके लिए पगडंडी जितनी जगह खाली छोड़ दी। शोहदा बड़ी अदा से उसकी ओर बढ़ने लगा जैसे परस्पर गिचे-पिचे यात्री उसके सम्मान में दोनों तरफ सलामी देने की मुद्रा में खड़े हों !

वह हर श्वास के साथ शोहदे के कदम गिनने लगा—एक·· दो···तीन···चार···पाँच···

"—क्यों बे···जान प्यारी नहीं है क्या ?" शोहदा कुछ कदम दूर से ही चाकू खोलकर दहाड़ा।

"—अब मेरे पास कुछ नहीं है दोस्त, सिरफ तन के कपड़े हैं चाहो तो ये भी उतार लो।" वह कमीज के बटन खोलता रहा। उसे आशा थी कि दोस्त कहकर बेचारगी से बात करने पर शोहदा कुछ नरम पड़ जायेगा। पर शोहदे पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

"—चौप्प साला ! टुल्ला खेलता है···इदर खबर हुआ है तुम्हारे पास बोहत माल है," शोहदे ने उसके पेट में घूँसा दे मारा।

"—होह-आप !" वह दोहरा होकर बैठ गया। उसकी साँस नसों में गुम होने लगी। जीभ दाँतों में आकर कट गयी। मुँह में लहू का स्वाद घुल गया।

दो-तीन मिनट बाद शोहदे ने उसे गुद्दी से पकड़कर उठाया तो वह फूटकर रो पड़ा।

"मार ले···और मार ले···उतार दे चाकू मेरे पेट में !" उसने पतलून में से कमीज खींचकर पेट उघाड़ दिया।

"—तेरी मुराद भी पूरी करूँगा·· पहले बैग खोल···इसमें क्या है ?"

"—कुछ कपड़े और किताबें हैं।"

"—ला इदर कर," शोहदा उसका बैग झपट कर पाँवों के बल फर्श पर बैठ गया।

वह दो-मना हुआ सिसकता रहा। अब वह डर भी रहा था और यह भी सोच रहा था कि लपक कर शोहदे के हाथ से चाकू छीन कर उसकी पीठ में घुसेड़ दे।

"—क्या काम करता है तू ?" शोहदे ने बैग टटोलते हुए पूछा।

पहले तो उसने उत्तर नहीं दिया लेकिन फिर यह सोचकर कि शोहदा शायद ढीला पड़ रहा है, उसने कहा, "मास्टर हूँ।"

"—ओ तो गुरू-बाबू हो···किदर जाता है ?"

"—चंडीगढ़ !"

"—उदर क्या करेगा ?"

"—परीक्षा दूँगा बी. ए. की।"

"—बी. ए. करके पुलिस कप्तान बनेगा ?" शोहदे ने हँसते हुए दूसरे मुसाफिरों की ओर देखा तो वे भी उसके साथ हँसने लगे।

बैग में ऊपर ही ऊपर बिल्कुल नयी ऊनी जरसी पड़ी थी। उसके साथ ही पुड़िया में बँधी रेजगारी थी। शोहदे ने पुड़िया खोलकर तहमत में बाँध ली और जरसी निकालकर उलटता-पलटता शायद उसकी कीमत आँकता रहा ··और फिर अचानक बैग को उस पर फेंककर जाते हुए बोला, "जा बच गए गुरू बाबू···किस्मत अच्छी थी, नहीं जान गवाँ बैठता आज तो···!"

शोहदे के जाने के तुरंत बाद गाड़ी शीटिंग करती हुई प्लेटफार्म की तरफ चल पड़ी। वह अपने आप में सिमटा हुआ-सा बड़ी ऊलजलूल बातें सोचने लगा ··वह लूटा गया है ?··· उसे लुटने दिया गया है ?···वह खुद ही लुट गया है ? उसने कई बार बच्चों को पढ़ाया है··· अन्याय करना और सहना दोनों पाप हैं।···और अब ?···तो अब ? वह क्या कर सकता है···?

गाड़ी के प्लेटफार्म पर रुकते ही उसने यात्रियों की ओर मुँह कर देखा। वे सब सिट-पिटाये से निराश चेहरों में जीने का दम भर रहे थे।

"—कायर !" वह बड़बड़ाया और एकाएक खिड़की में से ही प्लेटफार्म पर उतर कर तेजी से स्टेशन मास्टर के कमरे की ओर चल पड़ा।

"—खबर करने जाता है क्या ?" एक खम्भे के पीछे से निकलकर यार्ड की पटरी पर मिले उसी युवक ने उसे रोक लिया।

युवक को पहचानते ही उसने लपक कर उसका हाथ पकड़ लिया "—चलो मेरे साथ··· मैं तुम सबको देख लूँगा।"

"—किदर ले जाएगा ?"

"—पुलिस में दूँगा।"

"— बाजू छोड़ दे। इदर चारों तरफ हमारा आदमी घूमता है'''तेरा तो लाश भी पहचान में नहीं बैठेगा।"

वह हकबकाया-सा इधर-उधर देखने लगा।

"—देखता क्या है'''जा रेल में बैठ।" युवक बोला।

"—पर मेरा तो सब कुछ लूट लिया है तुम लोगों ने ?" वह फिर रुआँसा हो गया।

"—खैर मनाओ के जान बच गयी।"

"—तुम्हें मुझ पर तरस नहीं आता ?"

"—आता है, इसी वास्ते मना करने आ गया। उदर उस्ताद ने तो बोल दिया कि इसका टिकेट काट दो।"

"—मेरे पास एक पैसा भी नहीं है और मैंने बहुत दूर जाना है'''सात घंटे का सफर है।

"—अपन तुझे रेल में बिठाता है'''दस रुपया तेरी पीछे की पाकेट में डाल देगा'''सब लोग के सामने नहीं दे सकता।"

"—तुम्हारे साथ ऐसा जुल्म हो तो तुम पर क्या बीते ?"

"—मेरे साथ भी ऐसा ही हुआ था।"

"—तो तुमने क्या किया है ?"

"—चुपचाप मुड़ गया और फिर'''फिर क्या'''देखता नहीं अपन क्या है'''चलो रेल छूटने को है।"

उसने देखा, गार्ड लगातार सीटी बजाकर हरी झंडी फहराता अपने डब्बे की ओर जा रहा था। उधर इंजन भी कूक रहा था। वह विचलित-सा कभी गार्ड, तो कभी इंजन और कभी प्लेटफार्म से बाहर जाने वाले दरवाज़े की तरफ देखने लगा।

युवक ने उसे ज़्यादा सोचने-समझने की मोहलत नहीं दी। उसे ठेलते हुए बोला—"अब देखता क्या है। रेल छूट गयी तो साला टीप दिया जाएगा। कोई घर नहीं जाने देगा बच्चों को।"

वह हताश और खिंचता हुआ-सा युवक के साथ घिसटता रहा। गाड़ी सरकने लगी तो युवक उसे कंधे के नीचे से पकड़कर भागने लगा और भागते-भागते ही उसने उसकी पिछली जेब में नोट सरका कर उसे खिड़की के रास्ते उसी डब्बे में धकेल दिया।

इस बार उसे किसी यात्री ने कुछ नहीं कहा। बल्कि सब उस पर दया करके उसके लिए जगह बनाने लगे। मगर वह पिछली जेब पर हाथ फेरता हुआ उन दयालु आँखों से और भी सहम गया। ●

# स्मृतियों के समंदर में

☐ बलराम

रामनगर, नाना का गाँव, नाना के इस गाँव की भूमि सत्ती की जन्मभूमि है। इसी गाँव में पैदा हुआ था वह। यहीं गड़ी है उसकी नाल शायद इसीलिए वह रामनगर जाने के लिए कुछ अधिक ही हुलसता रहा है, लेकिन नानी की मौत के बाद रामनगर उससे कुछ इस तरह छूटा कि आज तक वह रामनगर के दर्शन नहीं कर सका। जन्मभूमि होने के कारण ही शायद उसे लगता रहा है कि दुनिया में कहीं और उसका घर होता, न होता, लेकिन रामनगर के उस घर को उसका घर जरूर होना चाहिए था। जिसकी दो बीता भूमि को उसके शरीर का पहला स्पर्श मिला, उसके पहले प्यार की तरह, लेकिन न उसे वह घर मिला और न ही वह लड़की, जिससे उसका पहला प्यार हुआ था। नाना का वह घर तीन बरस से लेकर छह बरस तक की उम्र की उसकी क्रीड़ाओं का साक्षी रहा है, लेकिन विधाता को शायद यह मंजूर नहीं था कि वह अपनी जन्मभूमि पर अपने पाँव जमा सके, अन्यथा बप्पा कचहरी जाने से क्यों कतराते रहते। हो सकता है कि बप्पा के मन में कोई भय रहा हो? जिसके कारण वे कचहरी जाने में टालमटोल करते रहे और उसी कारण सत्ती अपनी जन्मभूमि से उखड़ गया।

उखड़ गया। अरे सत्ती वहाँ जम ही कहाँ पाया। वहाँ तो सिर्फ़ उगा था वह। उसे तो अपने उगने की सही तिथि भी नहीं मालूम। किसी को मालूम रही हो तो वे सिर्फ़ और सिर्फ़ नाना थे। उन्होंने अगर सत्ती की जन्म-पत्री बनवाई भी होगी तो उसे नाना की मौत के बाद सिपाहिन ने चूल्हे के हवाले कर दिया होगा। सत्ती को अच्छी तरह से याद है कि नाना का बड़ा-सा बक्सा था, काठ का बना हुआ, जिसमें न जाने कितने कागज-पत्तर भरे रहते थे—सिंचाई के, लगान के और न जाने किस-किस काम के। एक पोटली में बँधे सोने-चाँदी के कुछ जेवर भी थे उस बक्से में। कहते हैं कि नानी की मिट्टी को गंगा घाट पर फूँककर लौटे नाना को बक्से का ताला टूटा हुआ मिला था, उसमें रखे वे गहने-गुरिया सब गायब थे, लेकिन नाना चुप लगाकर रह गए। बाद में उस बक्से की कोई सार संभार उन्होंने नहीं की। हो सकता है, उसी बक्से में सत्ती की जन्मपत्री रही हो। अम्मा या बप्पा में से किसी को भी उसकी जन्मतिथि याद नहीं है। वे लिखे-पढ़े होते तो भले ही किसी कापी-कागज में नोट कर लेते, लेकिन उनकी निरक्षरता ने सत्ती की जन्मतिथि को भूतकाल के अंधकार में विलीन कर दिया है।

एक बार सत्ती ने अम्मा को बहुत कुरेदा तो वे सिर्फ़ इतना बता पायीं कि पंडित जवाहर लाल नेहरू के राजा बनने के चार-पाँच साल बाद वह पैदा हुआ। दिन या महीना उन्हें कुछ भी याद नहीं रहा था। बुद्धू मामा ने जरूर एक बार चर्चा छिड़ने पर बताया था कि उस दिन

महात्मा गांधी की पुण्य तिथि थी और उनके स्कूल में शोक मनाया गया था।

श्यामगंज से लौटकर नाना रामनगर पहुँचे तो पाया कि पाले ने अरहर के खेत चर लिए हैं और किसानों में हाय-तोबा मची हुई है। गेहूँ की फसल को काफी नुकसान पहुँचा था। पता नहीं, फसल की बरबादी का सदमा था या नानी का वियोग अथवा सत्ती के नाम ज़मीन-जायदाद न लिखवा पाने का क्षोभ या कि उम्र का दबाव, रामनगर पहुँचते ही नाना बीमार पड़ गये। उनकी बीमारी की खबर समय से श्यामगंज नहीं पहुँच पायी। बुद्ध मामा कुछ दिन के लिए कहीं बाहर गए हुए थे, सो बीमार नाना की दवा-दारू और देख-भाली सिपाही और सिपाहिन को करनी पड़ी। नाना ने उनसे कहा था कि हमें श्यामगंज पहुँचा दो। सिपाही ने उनकी बात टाली नहीं और अगली सुबह बैलगाड़ी मचिया दी। उस पर नाना को लादा और श्यामगंज के लिए चल दिये।

सिपाही गाड़ी हाँक रहे थे। सिपाहिन गाड़ी में नाना को संभालने के लिए साथ बैठी थीं। गाँव की हद भी नहीं पार कर पाये थे कि नाना की बोलती बंद हो गयी। अब क्या करते सिपाही? गाड़ी वापस रामनगर लौटा लाये और नाना की अर्थी सजा दी गयी। गाँव के अनेक लोग जुड़ गए थे और फिर नाना की आखिरी यात्रा पूरी हो गयी। कई दिन बाद कोना फटा पोस्टकार्ड श्यामगंज आया था, बप्पा के नाम। नाना की मौत की खबर सुनकर अम्मा दहाड़ मारकर रोयीं और शाम तक रह-रहकर रोती रहीं। माँ-बाप के नाम पर, जो कुछ उन्होंने पाया था, उस दिन के बाद वह सब का सब खो गया और वे इस संसार में एकदम से अकेली हो गयी थीं, निचाट अकेली।

दो महीने बाद रामनगर से पारबती मौसी आईं और अम्मा को बताया कि तुम्हारे मामा अपनी मौत थोड़े ही मरे, बेहोशी की हालत में सिपाहिन ने उनकी घींच दबा दी और चार-छह लोगों को साथ ले जाकर सिपाही ने गंगा घाट पर उन्हें फूंक दिया। अर्थी सजाने से पहले कई कोरे कागजों पर अँगूठे के निशान लगवा लिये ताकि उनका सबकुछ हड़पने में कोई कानूनी अड़चन न आये। अब क्या है, अँगूठा लगे कोरे कागजों पर कुछ भी लिखवाया जा सकता है, बप्पा ने ये सारी बातें सुनीं और लंबी साँस छोड़ते हुए कहा, "चलो, हमारी सत्ती बचिगा, नाहीं तौ कौनेव दिन सिपाहिन वोखा कुआँ खंधक मां फेंकि देति तौ वोब्यार हम का करि लेतेन?"

"सिपाहिन तौ पूरी डाइन है।" पारबती मौसी ने कहा।

"उवा कहावत है न कि रोटी का टुकड़ा गा, कुत्ता कै जात पहचान लीनि।" कहते हुए बप्पा को लगा कि नाना कि ज़मीन-जायदाद सत्ती के नाम न लिखवाकर उन्होंने अच्छा ही किया, वरना नाना पर गिरी यह गाज क्या पता, सत्ती पर ही गिरती। किसी बड़े खतरे से सत्ती के साफ़-साफ़ बच जाने का संतोष उनके चेहरे पर छलक आया, लेकिन अम्मा की आँखें भर आयी थीं, अपने बीमार मामा के इस तरह मार दिये जाने की बात सुनकर।

तो क्या बड़े भैया के विरुद्ध बप्पा ने सत्ती के पक्ष में इसीलिए कुछ नहीं कहा। क्या वे सिपाही और सिपाहिन की तरह बड़े भैया से भी डरे हुए हैं? अब क्या बड़े भैया से गोपालपुर का आधा घर वे सत्ती को नहीं दिलवायेंगे? क्या उसके हिस्से के घर के टुकड़े से उन्होंने बड़े भैया की जात पहचानी है? कितना महँगा है किसी की जात पहचानने का उनका यह तरीका? अरे, जिसे जितना मिलता जाता है, वह उसे हथियाता चला जाता है। एक बार हथिया लेने से फिर कहाँ आसानी से छोड़ता है कोई कुछ, वह चाहे अधिकार हो, मान-सम्मान, धन-दौलत या

ज़मीन-जायदाद। इस सामान्य-सी बात को बप्पा जीवन-भर नहीं समझ सके और हमेशा खोते ही खोते रहे, कुछ पाया नहीं कभी। वे तो जुग-जुग जियें सभापति काका, जिन्होंने गोपालपुर की ज़मीन पर बप्पा का नाम डलवा दिया, नहीं तो बप्पा सब कुछ बड़े भैया के ही नाम करवा रहे थे, लेकिन ऐन टाइम पर सभापति काका ने उन्हें समझा दिया था, "नाहीं राघव, ज़मीन पर अपन नाम डरवाव, तुम्हार चार ठो लरिका हैं और दुई बिटियाँ, समय क्यार कौनव ठिकाना नाइं है कि कबैं का होई जाय।" बात बप्पा की समझ में आ गयी थी, नहीं तो आज बड़े भैया जैसे घर में सत्ती को आधी ईंट तक न देने की घोषणा कर गये हैं, वैसे ही ज़मीन में भी हिस्सा न देने की घोषणा कर गये होते। तब बप्पा क्या कर लेते बड़े भैया का? फड़फड़ा कर रह ही तो जाते। अब बड़े भैया की जात पहचान गये हैं तो भी उनका क्या कर लेंगे? उनसे छीन कर आधा घर उसे दे सकते हैं? इस बुढ़ापे में क्या इतना साहस कर सकते हैं बप्पा? ये तमाम सारे सवाल मुँह बाकर खड़े हो गए हैं सत्यप्रकाश के सामने।

नाना की मृत्यु के बाद वैसे भी उनके घर-बार और ज़मीन-जायदाद के मामले में टाँग अड़ाने के आसार नहीं रह गए थे। जो कोर-कसर बाकी थी, मरने के बाद कोरे कागज़ों पर लिए गए नाना के अँगूठे के निशानों ने पूरी कर दी थी। एक क्षण को मान लो कि ऐसा कुछ न भी होता तो भी क्या बप्पा कोर्ट-कचहरी जाते? नहीं जाते, क्योंकि कोर्ट-कचहरी के तो नाम से ही उनकी रूह काँपती है। वे बाकी सब कुछ कर सकते हैं, मगर कोर्ट-कचहरी नहीं जा सकते, तब तो और भी नहीं, जब किसी के खिलाफ कोई मुकदमा लड़ना हो। गोपालपुर की ज़मीन लिखवाने ही बड़ी मुश्किल में गए थे, अपनी बुआ की हज़ार-हज़ार गालियाँ सुनने और सभापति काका के बहुत समझाने के बाद। वह भी इसलिए कि उनकी बुआ का कोई संबंधी जीवित नहीं था। बड़े भैया को वे बचपन में ही अपने पास ले गई थीं और थोड़ा समझदार होते ही सब कुछ उन्हें सौंप दिया था। इसी तरह सत्ती के नाना के जिंदा रहते कुछ हो-हवा जाता तो हो जाता, लेकिन उसके मरने के बाद सिपाही से मुकदमाबाजी करने कौन जाता। सत्ती के बप्पा ने ही कोई पहल नहीं की तो फिर किसकी गरज पड़ी थी और किसमें इतनी हिम्मत थी कि सिपाही के सम्मुख जाता, वे यू. पी. पुलिस में हवलदार जो थे।

तब से गंगा और जमुना में न जाने कितना पानी बह गया, मगर माधौ परिवार की कोई चिड़िया तक रामनगर नहीं गयी। जाने की ज़रूरत भी क्या थी। सिपाही नाना के घर से माधौ परिवार के संबंध वैसे भी कभी मधुर नहीं रहे, कारण कि उन्होंने बिट्टी की शादी माधौ परिवार में करने का विरोध किया था, क्योंकि एक तो राघव की उम्र कुछ ज्यादा थी, दूसरे वे दुजहे थे। उनकी पहली पत्नी से उनके दो बच्चे थे, एक लड़का यानी बड़े भैया और एक लड़की यानी माया जीजी। बाद में नाना की ज़मीन-जायदाद की बात भी एक गाँठ बनी रही, जिसके खुलने की कोई संभावना अभी तक नहीं बन पायी है। फिर भी, रामनगर को लेकर सत्यप्रकाश अक्सर भावुक हो उठता है। एकाएक उसके सामने वह छोटा-सा गाँव रामनगर, आ खड़ा होता है, जहाँ वह पैदा हुआ था। गाँव के बीचोबीच गुजरता बटहा, गाँव के एक किनारे पर नाना का कच्चा घर, चबूतरा और उससे लगा नीम का भारी भरकम पेड़, जिसकी निबौरियाँ इकट्ठी कर पड़ोसी बच्चों के साथ वह तरह-तरह के खेल खेला करता था। घर के सामने एक कुआँ था, जिसकी जगत काफी ऊँची थी और जिसमें लकड़ी की गरारी लगी थी। थोड़ी दूर पर रेलवे लाइन थी, जहाँ से छक-छक करती रेलगाड़ियाँ गुजरती रहतीं, धुआँ उड़ाती हुईं।

ऊपर सीऽऽऽ करते जहाज हवाई अड्डे पर उतर जाते। नाना की बगिया, खेत और खलिहान और···और भी बहुत कुछ था। सत्यप्रकाश के दिमाग में नानी की भी धुँधली-सी तस्वीर उभरती है। सन जैसे सफ़ेद बाल और पोपला मुँह। दुबली-पतली काया। उनकी बाँह में कुछ फूल गोदे हुए थे और गोदा हुआ था नाना का नाम—राम नारायण।

हल्का-सा चित्र नाना का उभरता है—नाना के बाल पूरी तरह सफ़ेद नहीं हुए थे और दाँत तो पूरे सही-सलामत थे। दोनों कान छिदे हुए थे, जिनमें पीली-पीली सोने की बालियाँ पड़ी हुई थीं। नाना हमेशा साफ़ कपड़े पहनते थे, कमीज और धोती। हाथ में घड़ी और पैरों में किरमिच के जूते। बप्पा की तरह चमरौधे के जूते नहीं पहनते थे नाना। बप्पा आज भी नेकर नहीं पहनते, लेकिन नाना के नेकर और बनियान की याद है सत्यप्रकाश को। अम्मा बताती हैं कि नाना को पहनने का शौक नहीं था, वे खाते-पीते अच्छे से अच्छा थे। सात-आठ बीघे खेत थे और थी एक छोटी-सी बगिया, जिसमें आम, अमरूद और बेर के पेड़ थे, जिन्हें वे फसली ठेकेदारों को ठेके पर उठा देते थे। खेत भी बटाई पर दे देते और खुद दुदाही का धंधा करते। दूध लेकर कानपुर बेचने जाते और ठाठ से रहते। पढ़े-लिखे तो बहुत नहीं थे, पर हिसाब-किताब में इतने माहिर थे कि बीसियों लोग आगे-पीछे लगे रहते थे। बोलते तो क्या मजाल कि कहीं से भी देहातीपन झलक जाये, और ऐसा शायद शहरी जीवन से उनके हेलमेल के कारण हो गया था, जिसका सीधा असर सत्ती पर पड़ा था, जो बचपन में ही ठेठ हिंदी बोलने लगा था।

नाना की एक और चीज़ याद है सत्ती को, उनकी कमीज की ढक्कनदार जेब, जिसमें एक डायरी रहती थी और उस में रहते थे उनके रुपये-पैसे। दूध का हिसाब भी उसी डायरी में रखते थे। नाना-नानी को आपस में झगड़ते हुए तो सत्ती ने कभी देखा ही नहीं था। सिर्फ़ सिपाही और सिपाहिन से उनकी बातचीत नहीं होती थी। नाना के एक खेत पर कुआँ था, जिसमें अक्सर पुर चलते हुए देखता था सत्ती। अपनी जवानी के दिनों में खेती-बाड़ी भी करते रहे होंगे नाना, लेकिन सत्ती के पहुँचने से डेढ़-दो साल बाद नाना ने दुदाही तक बंद कर दी थी। मुर्री का कुछ दूध बेच देते और कुछ का दही बन जाता, जिससे नानी सफ़ेद नेनू निकालती थीं सत्ती के लिए, जो बच जाती, उसका घी निकाल लेतीं; नाना के लिए। सत्ती तब घी नहीं खाता था। नानी मट्ठे पर ही गुजारा करती थीं। हालाँकि घी न लेने पर नाना प्रायः उन्हें झिड़क दिया करते। कुंजड़े जब बगिया को ठेके पर ले लिया करते तो नाना की टेंट गरम हो जाया करती थी। खेतों का आधा अनाज भी बेच देते। आधा अनाज फसल-दर-फसल उनकी बखारी में पहुँच ही जाता था। वे दिन बड़े अच्छे दिन थे, पर अच्छे दिन हरदम रहते कहाँ हैं। आज वे दिन नहीं हैं। है तो अकेला सत्ती, सिर्फ़ सत्ती, रामनगर में गुजारे गये तीन बरस की मीठी-मीठी स्मृतियों में डूबा हुआ। अपने बचपन के प्यार भरे ये तीन बरस सत्ती जब भी याद करता है तो उदास हो जाता है। कैसे थे वे दिन।

उसके बाद रामनगर से उड़ती हुई खबरें श्यामगंज आयी हैं और सत्यप्रकाश को उद्वेलित कर गयी हैं कि अब सिपाही नाना रिटायर हो गये हैं, कि सिपाहिन नानी कुएं में गिरकर मर गयीं, कि उनके लड़के का एक पाँव रेल दुर्घटना में कट गया, कि उनकी बहू किसी नाई के साथ भाग गई, कि उनका पोता अब बड़ा हो गया, कि अब उसकी शादी होने वाली है, कि वह बहुत समझदार है, कि उसने घर की डगमगाती नैया को किसी कुशल माँझी की तरह संभाल लिया है और यह कि अब वह श्यामगंज आने वाला है, कि वह बिट्टी की राय से अपनी बहन की शादी

श्यामगंज के ही किसी लड़के से करना चाहता है, कि वह बिट्टी को रामनगर बुलायेगा, कि वह सत्ती को अक्सर याद करता है और यह कि टूटे हुए संबंध को वह फिर से कायम करना चाहता है ताकि आने-जाने का सिलसिला शुरू हो सके आदि-आदि, सोचते हुए अचानक सत्ती के सामने आ खड़ा हुआ चंदू, पाँच बरस का। जिसे चंद्रप्रकाश कहते हैं, जिसने अब सत्यप्रकाश की तरह ही एम. ए. पास कर लिया है।

चंद्रप्रकाश, सिपाही नाना का पोता, सिपाहिन नानी के मना करने के बावजूद जो सत्य-प्रकाश के साथ चुपके-चुपके खेला करता था— कंचे और गोलियाँ, छिपी-छिपौवल या फिर कोड़ेवाला खेल। कभी-कभी वे आपस में लड़ भी जाते थे और एक-दूसरे को माँ-बहन की गंदी-गंदी गालियाँ बकने लगते थे। एक बार सिपाहिन नानी ने उन्हें एक-दूसरे से गुत्थमगुत्था देख लिया तो साथ-साथ खेलने पर पाबंदी लगा दी, लेकिन वे दोनों थे कि एक-दूसरे के बिना उनका काम ही नहीं चलता था। सिपाहिन नानी खेत-खलिहान जातीं तो वे फिर साथ-साथ खेलने लगते। एक दिन वे पकड़े गये तो सिपाहिन नानी ने चंदू को ऐसा तमाचा मारा कि चंदू भड़भड़ाकर गिर पड़ा। उसके सिर से खून की धार बह निकली। उस दिन के बाद वे दोनों फिर कभी साथ-साथ नहीं खेले। तब से सिपाहिन नानी उसे साक्षात डाइन लगती रही हैं। कुएं में गिरकर उसके मरने की खबर जब सत्ती को मिली तो न जाने क्यों उसे खुशी-सी महसूस हुई। हालाँकि व्यक्तिगत तौर पर सिपाहिन नानी ने कभी उसका कोई अहित नहीं किया था। लेकिन आज सत्ती को लगता है कि उसके बेघर होने के कुछेक कारणों में सिपाहिन नानी भी एक थी, जिसने उसके बीमार नाना की हत्या कर दी।

"हत्या ! तुम्हारे पास क्या सबूत हैं कि सिपाहिन ने तुम्हारे नाना की हत्या की ?" सत्यप्रकाश के अंदर बैठे न्यायाधीश ने पूछा।

"लोग कहते हैं।"

"लोगों की बात पर तुम्हें विश्वास है ?"

"क्यों नहीं।"

"फिर तो तुम्हें अपनी बीवी पर भी विश्वास करना पड़ेगा, जो कहती है, तुमने अपनी भाभी की हत्या करवा दी।"

"नहीं, यह झूठ है योर ऑनर, मैंने अपनी भाभी को नहीं मरवाया, वह तो टिटनेस से मरी है। मैंने तो उसे बचाने की पूरी कोशिश की, पर मेरा दुर्भाग्य कि वह बची नहीं।"

"तुम्हारा दुर्भाग्य, क्यों ?"

"क्योंकि वह बदल गयी थी। मैं किसी और के लिए नहीं, अपने लिए उसे बचाना चाहता था। वह मेरे अनुकूल हो उठी थी। वह इतनी बदल चुकी थी कि उसका बदलाव मुझे सपना-सा लगता था।"

"सपना, कैसा सपना ?"

"हाँ सपना, योर ऑनर, क्या कोई भाभी अपने देवर के लिए कभी इतनी चिंतित हो सकती है जितनी कि अपने बच्चे के लिए कोई माँ। बरसों तक उसे जिस रूप में पाने की कल्पना मैं करता रहा, वह मुझे उसी रूप में मिल गयी थी। वह मुझे प्यार करने लगी थी योर ऑनर, वह मुझे सचमुच प्यार करने लगी थी।"

"मगर तुम तो उससे नफरत करते थे, जैसा कि आज भी तुमने बड़े भैया से कहा।"

"हाँ, यह सच है योर आनर, मैं अपनी भाभी से बरसों तक नफरत करता रहा और चाहता रहा कि वह किसी भी तरह से मर जाए ताकि मेरी नयी भाभी आये, जो मुझे भाभी जैसा प्यार दे, लेकिन अपने जीवन के अंतिम वर्षों में वह खुद ही मुझे प्यार करने लगी थी और तब कोई कारण नहीं था कि मैं उससे प्यार न करने लगता। उस वक़्त तो अगर अपनी जान देकर भी उसकी जान बचा पाता तो मैं यह भी कर देता, काश ! यह हो पाता। मेरी भाभी स्वाभाविक मौत नहीं मरी योर आनर, लेकिन इसमें मेरा कोई कसूर नहीं है।"

"कसूर, कैसे नहीं है तुम्हारा कसूर, लेकिन सिर्फ़ तुम्हारा ही कसूर नहीं है। बड़े भैया अपना कसूर तुम पर थोप रहे हैं, जिसके लिए उन्होंने तुम्हारी बीवी के पत्र का इस्तेमाल किया है। उन्होंने एक तीर से दो शिकार किये हैं। अभी तुम सबकुछ साफ़-साफ़ समझ नहीं पा रहे हो। तुम्हें सबकुछ पता भी नहीं है और जितना कुछ तुम्हें पता है, सब का सब याद भी नहीं आ रहा, लेकिन अब जब तुम स्मृतियों के समंदर में कूद ही गये हो तो एक-एक कर सबकुछ तुम्हें याद आता चला जायेगा। तब तुम समझ सकोगे कि तुम्हारा कसूर कितना है और बाकी लोगों के कसूर भी तुम्हारे सामने स्पष्ट हो जायेंगे, लेकिन इतना तय जानो कि तुम्हारी भाभी की मौत हुई तुम्हारे ही कारण। जो कुछ हुआ, वह अस्वाभाविक नहीं था। अस्वाभाविक होता, अगर वह सब नहीं होता और जो कुछ हुआ, वह अकारण नहीं था। वह तुम्हारे प्यार में बुरी तरह से उलझ गयी थी। तुम खुद भी उसे प्यार करने लगे थे।

तुम्हें याद आ रहा होगा कि यही बड़े भैया एक दिन रस्सी से बाँधकर, बैलगाड़ी में डालकर तुम्हें श्यामगंज से गोपालपुर ले गये थे, किसी अपराधी की तरह, जहाँ तुम्हें पराधीनता की बेड़ियाँ पहना दी गयी थीं।"

"हाँ, योर आनर ? सत्ती को अब धीरे-धीरे सबकुछ याद आ रहा है। बातों का एक-एक सूत्र उसके सामने स्पष्ट हो रहा है, जिसके सहारे वह सच्चाई को पूरी तरह से समझने की कोशिश कर रहा है, क्रमश···क्रमशः सब कुछ उसकी समझ में आ जायेगा योर आनर, सब कुछ।" ●

# दूत

□ मंजुल भगत

फिर अंधेरी हवाएं चलने लगी हैं। कमरों की खिड़कियों दरवाजों का अपना एक अलग वजूद बन गया है। वे अचानक भड़भड़ाकर बंद हो गये हैं। फिर उसी दम एक धूल भरे भभूके ने उन्हें सपाट खोल दिया है। धूल की फुहार बिस्तर पर बिछ गयी है। एक कमजोर जनाना चीख धूल में सन गयी है।

"मयंऽऽकऽ! कहाँ चले गये? सुनो तो, देखो सब खिड़कियाँ खुल गयीं हैं।" खिड़कियाँ पटापट खुलने- भिड़ने लगीं। तनु ने पास ही मेज पर रखे तामचीनी के टामलोट में ढेर-सी फाँकी हुई धूल थूक दी। "चिलमची कहाँ गयी?" उसके दाँतों के बीच रेत के कण किटकिटाने लगे हैं। आँखों में जैसे काँच का चूरा किरकिराने लगा था। पलकें भी रगड़कर गुलाबी-घायल दिखने लगीं "मयंकऽऽ! कहीं हो भी तुम?"

मयंक आखिर हाथ में गिलास थामे डगमगाता हुआ पत्नी के समीप पहुँच गया। "बंद करो सब, जल्दी से।" तनु ने आर्द्र स्वर में कहा। मयंक फिर भी हथेली से गिलास ढाँपे असमंजस में खड़ा रहा। तनु ने उठने का दुर्बल उपक्रम किया फिर साँस के साथ बदन छोड़कर वापिस लुढ़क गयी।

"मैं नहीं उठ पाऊँगी, तुम जानते तो हो।" एक बेबस मरियल-सी रुलाई के साथ उसने अपने चेहरे पर चादर खींच ली। मयंक ने गिलास एक बड़ी-सी घूँट में खाली कर दिया। वह न लड़खड़ाने के उपक्रम में अपने को सीधा तानने लगा जैसे कोई कठपुतली हो। जैसे-तैसे वह खिड़की-दरवाजे बंद करने लगा। तनु मुर्दे की मानिन्द पड़ी रही, रोना अधबीच रोक कर। लम्बी साँस ले रही थी बिलखने में। मयंक ने जब तक सब खिड़की-दरवाजे बंद किये, आँधी कुछ थम चली। कमरे में घुटन भरने लगी। बाहर सब शोर शांत हो गया। चादर के भीतर तनु का दम घुटने लगा। उसने चादर हटा दी। गिलास से पानी उलीच कर चादर का कोना भिगो लिया और चेहरा पोंछने लगी। फिर कोहनी के बल उठंग होकर कुल्ला करने लगी। अचानक उसकी आँखों में दहशत तैर आयी और वह बिस्तर पर ढह गयी।

"मयंक? खिड़की दरवाजे खोल दो प्लीज!" वह फुसफुसायी। मयंक अब तक आराम कुर्सी पर ढह चुका था।

"हाँ आँ? हाँ, अच्छा।" पत्नी के स्वर से चौंका-घबराया मयंक उठ गया। फिर से खिड़कियों तक लड़खड़ाने और खोल देने का एक लंबा सिलसिला शुरू हो गया।

"मयंक?" तनु ने घबरायी आवाज में पुकारा।

"हाँ आँ।"

"मयंक ?"

"ओफ्फोह ! बोलो भी।"

"तुमने कहा था, तुम उसे श्मशान घाट गाड़ आये हो ?"

"हाँ ! पंडित कहता था, उतने छोटे बच्चे को चिता नहीं देते।" मयंक एक वाक्य बोल पाने और एक खिड़की खोल देने में सफल हो गया था।

"वो···वो···कहता था अभी बच्चे के मुख में अन्न नहीं गया···इसलिए।"

बाहर हवा का खेल समाप्त हो गया। सड़क पर पीले-कुम्हलाये पत्तों का खदेड़ा हुआ अंबार पसरा था। तनु ने मुँह खिड़की की ओर कर लिया था। मयंक तब तक सामने का दरवाजा खोल चुका था। तनु ने नजरें उठायीं तो पाया, तमाम आँगन धूल-पत्तों से भरा था।

"मयंक ?"

"क्या है भई ?" मयंक झल्ला पड़ा।

तनु मन में उठता गुबार दबा गयी और बात पलटकर बोली, "वो नौकर कहाँ गया ? जरा झाड़ू लगा देता बाहर" पर मन के भीतर वही बातें उमड़-घुमड़ करती रहीं। जब भी आँधी चलती है उसे लगता है उसके नवजात शिशु की समाधि पर से तमाम मिट्टी गर्द उड़ा ले गयी है और वहशी कुत्ते बची खुची मिट्टी को खोद कर उसके बच्चे की लाश को नोंच-खरोंच कर चबा रहे हैं।

मयंक आराम कुर्सी पर पसर चुका था। तनु एक कमजोर-सी रुलाई रोने लगी।

मयंक कुर्सी घसीटकर पलंग के पास ले आया, तनु की बाँह पर हाथ रखकर, लाचार-सा बोला, "यों न रोओ तनु ! बोलो न, क्या हुआ है तुम्हें ? दूध पीयोगी ? वह नौकर भी न जाने कहाँ चला गया ?"

पति का स्वर सुनकर तनु में जरा साहस आया। "मयंक हमारा बच्चा ! इतना छोटा-सा, अभी पूरा भी न बना था, कि···।"

"वह पूरा बन गया था। मैंने देखा था। सिर्फ़ ढाई पौंड वजन था।" मयंक ने उदासी से कहा।

"वह आधा घण्टे तक साँस भरता रहा था, जीने की कोशिश में।" तनु ने कहा।

"हाँ नर्स ने कहा था, वह पैदा होकर रोया नहीं था।"

"उसमें रोने का दम कहाँ था ? उन्होंने उसे मेरे सिरहाने की तरफ मेज पर यों ही डाल दिया था।"

"हाँ डॉक्टरनी कहती थी वह जी ही नहीं सकता, साढ़े छः महीने ही तो पेट में रहा था।"

"नहीं। इसलिये नहीं। वह जीवित न रह सका। क्योंकि यहाँ हस्पताल वालों के पास इंक्यूबेटर नहीं था।" तनु ने तड़पकर कहा।

"ऐसा नहीं सोचो तनु !" मयंक हिड़क कर रो दिया। तनु एकदम से जड़ हो गयी। उसने अपना जबड़ा भींच लिया। भीतर कहीं कुछ भरभराता रहा, संधता रहा। ऊपर से उसने अपने स्वर को सहज स्वाभाविक बनाते हुए कहा, "मयंक ! डॉक्टर कहती थी यदि वह जबरन मशीन के भीतर रखा जाता तो···तो··· वह मानसिक रूप से विकलांग रह जाता, उससे यही

अच्छा है मयंक।"

"लेकिन, तुमने तो उसे सिर घुमा कर देखा तक नहीं था, तनु, ऐसा नर्स ने मुझे बतलाया था।"

"क्या करती देखकर ?" तनु का घुटता क्रन्दन गाढ़ा होकर फूट पड़ा, "देख लेने पर ममता उमड़ती··· मन छटपटाता कि मेरे बच्चे को कैसे भी, कुछ भी करके बचा लो।"

मयंक के ढीले बदन में न जाने कहाँ से तेजी आ गयी। वह झपाटे से उठा और किताबों के रैक के पीछे से छिपाई हुई बोतल निकालकर गिलास भर लाया। एक बेसब्र घूँट में गिलास खत्म कर दुबारा भरकर, आराम कुर्सी पर जम गया। तनु अपना शोक स्थगित कर एकटक पति की ओर ताकने लगी। थरथराते हाथों से गिलास होंठों तक पहुँचता कि मयंक की आँखें मींच गयीं और एक गहरी प्यास के तहत होंठ गिलास से चिपक गये। एक साथ आधा गिलास खाली करके वह जमीन को घूरने लगा। हाथ फिर काँपे, प्यासे होंठ आगे बढ़े और गिलास से चिपक गये। तनु की आँखों से आँसू बहने लगे। मयंक की उठती, गुसलखाने की ओर बढ़ती आकृति धुँधला गयी।

मयंक ने टब के नीचे से एक और बोतल निकाल ली। एक गिलास वहीं गिरते-पड़ते पी गया। दूसरा भरा गिलास थामे पत्नी के पास पहुँचा—

"आ······आज··· कम ही··· कम··· पीयूँगा।" उसने एलान किया और पी गया। हाथों की उँगलियाँ मानो सब अंगूठे बन गये थे। गिलास फर्श पर गिरकर झनझनाता हुआ टूट-बिखर गया था। मयंक नींद में चलता हुआ दोहरे पलंग तक पहुँच गया और तनु के दूसरी ओर फैल गया। आज का रोज आखिर समाप्त हुआ। तनु-बेहाल-सी रोने लगी। उसके रोने की उठती फूलती लहरें पति की पाषाण हुई संज्ञा से सर पटक कर लौटने लगीं।

नौकर बाजार से लौटा तो धूल, काँच के टुकड़े और सब के ऊपर पसरा शराब का भभका देखकर चिड़चिड़ाया-सा बोला, "बी वी, भाजी ले आये हैं। खाना क्या बनेगा ?"

तनु की चेतना झटका खाकर 'आज' के सिलसिले में लौट आयी। अभी कुछ देर बाकी थी—इस 'आज' को पूरी तरह भरने में। उसने अपने स्वर को संयम कर मालिकाना बनाया।

"जगदीश तुम पहले इस कमरे से काँच समेटो। झाड़ू लगाकर पूछना—क्या बनेगा।"

"सो तो करेंगे ही।" जगदीश ने एक नजर मयंक पर डाली और बुदबुदाता हुआ चला गया।

"साब है कि तमाशा। कभी उल्टी करता है, कभी तोड़-फोड़।" तनु को सुनते हुए भी अनसुना कर देना पड़ा। घर में भुतैली-सी शाम उतर आयी थी। झाड़ू लगाने की खुसर-खुसर खामोशी को और उभारने लगी।

जगदीश रसोई में छुनन-छुनन कर रहा था।

"जगदीश !" उसने आवाज दी, तो वह एक प्लेट में उबली हुई सब्जियाँ ले हाजिर हो गया।

"बीवीजी आपका खाना।"

"रख दे मेज पर, और पहले दोनों दरवाजों के परदे डाल दे।"

जगदीश ने परदे डाल दिये। तनु ने तिपाई पर से बैडपैन सरकाया और अपने नीचे व्यवस्थित कर लिया। उसे वापिस खिसकाना कठिन लगा। छलक कर चादर न खराब कर दे।

"जगदीश परदे हटा दे और मेरे हाथ धुला दे।" आवाज में उम्र का बड़प्पन लाकर भी तनु नौकर से बोलती है जिससे बिस्तर पर अवश पड़ी तनु के सम्मुख वह अपने को छोटा, बच्चा-सा ही महसूस कर सके। हाथ धुलाते हुए जगदीश को बीवीजी पर अथाह दया हो आयी। बेचारी ! पड़ी-पड़ी घुल रही है। "कंपोंडर साब।"

दुपहिये स्कूटर की घड़घड़ाहट करीब आते सुनकर जगदीश के कान खड़े हो गये। एक काला, लंबा-सा आदमी भीतर आ गया। धूल अटे फटे से जूते, तिलचट्टे की चाटी-सी रेशमी टाई, बड़े-बड़े हाथों में किरमिची ब्रीफकेस और पीतल का छोटा-सा कटोरदान। यही थे कपाउंडर साहब !

"अरे रे। इस बस्ती में रात इत्ती जल्दी पड़ जाती है ? अपना तोअभी दिन ही शुरू हुआ है। अरे, जगदीश गुरु, सुई तो उबाल ला जरा।"

कंपाउंडर साहब के उत्साह से कोई भी अछूता न रहा सिवाय मदहोश मयंक के।

"इत्ती खुशी आपको किसी को सुई खुबाने की हो रही है ? सच कह रही हूँ सक्सेना साब, कल से दायें कूल्हे में आरी-सी चल रही है—पाँव तक चीस की लहर उठ रही है।"

"तो जब बायीं तरफ लगाये देते हैं। चलिये दूसरी तरफ पलटिये—आपकी सैर हो जाये जरा—देखिये, उस तरफ का नजारा कैसा दिलकश है। वो, कौने में साहब की जुराब जो पड़ी रह गयी थी, वो नीली धारी वाली····।"

"हाय !"

"क्या हुआ ? अरे अभी तो स्प्रिट का फाया फिरा रहा हूँ। सुई तो मेरे हाथ में है। हाँ, तो उस नीली धारी वाली जुराब में, चुहिया ने छः नन्हें-नन्हें बच्चे दे रखे हैं।"

"कहाँ ? जगदीश ! अई ऽऽऽ।"

"फाया फिरा रहा हूँ, भई ! सुई तो कब की लग चुकी। और जगदीश क्या करेगा ? चुहिया ने जुराब को पहले से ही जूते के बक्से में संभाल रखा है। यहाँ-वहाँ थोड़ी फैला रखा है।"

तनु हँस पड़ती है और सीधी होकर चादर ऊपर तक ढक लेती है।

जगदीश के आते ही सक्सेना चहक पड़ता है। "क्या पिला रहा है बन्धु ?"

"कॉफी लाऊँ ?" जगदीश सक्सेना की उमंग-तरंग से रंगा, मुस्कुरा देता है। "चल ला, पिला दे।" जगदीश के जाने पर वह गंभीर होकर तनु से पूछ बैठा, "अच्छा, यह बताइये तनु जी, आप इससे पहले कब हँसी थीं ?"

"याद नहीं। उस रोज़ रविवार के दिन जब आप दोपहर में आये थे, और मेरा मरीजों वाला खाना खाया था··· वो··· मूँग की दाल का पानी।"

"आँ-आँ'। और इस पिछले आँगन में कौआ बची हुई दाल में डुबकी लगाकर, तार पर बैठा, छोटे तौलिये से अपनी चोंच साफ़ कर रहा था ?"

तनु खिलखिलाकर हँस पड़ी। सक्सेना बोला, "क्यों नहीं, साहब लोगों का कौवा है आखिर। अच्छा, यह बताइये आज आपने क्या खाया ?" सक्सेना ने जगदीश के हाथों से कॉफी का प्याला थामते हुए पूछा।

तनु ने बकबका-सा मुँह बनाया, "उबली हुई सब्जियाँ।"

"अरे वाह ! बची हैं कुछ तो मँगवाइये। कॉफी के साथ आनन्द आ जायेगा······ जगदीश !"

"नहीं, नहीं। आप कुछ और खाइये। जगदीश अपने साहब के लिये क्या बनाया है?"

"अरे, जगदीश उबली सब्जियाँ बची हैं?" सक्सेना ने बीच में टोका।

"जी बस, फेंकने ही जा रहा था।"

"हैं? सारी कौवे के लिए? मैं क्या खाऊँगा फिर?" सक्सेना ने घबराकर कहा।

जगदीश को हँसी आ गयी। वह सब्जियाँ गर्म करके ले आया।

"साब के लिये कटहल की तरी वाली सब्जी बनायी है, ले आऊँ, परांठों के साथ?" जगदीश ने पूछा तो सक्सेना हँसने लगा—

"अरे यार तू भी बीवियों की तरह रट लगा लेता है। इतना बढ़िया खाना खा के मैं बीमार भी पड़ सकता हूँ। एक स्लाईस ब्रैड भी ले आ, बस।"

सक्सेना खूब रस लेकर खाने लगा।

"आपका खाना तो न इधर का रहता है न उधर का। बेकार ही भूख खराब किया करते हैं।" तनु ने कहा।

"बस अब घर जाऊँगा और नहा-धोकर सीधा छत पर—वहाँ मुंडेर पर मेरे लिये पहले से ही ठण्डे पानी की सुराही रखी होगी। कुछ ही देर में बीवी मेरे लिए दो पापड़ सेंक कर ले आयेगी।"

"पापड़?"

"हाँ। दो पापड़ खाकर आदमी अगर तीन गिलास पानी गटक ले तो पेट में पड़े पापड़ फूलकर बड़ियाँ बन जाते हैं और ये ऽऽऽ मोटी-मोटी डकार आती हैं और लाला रात का सोया सुबह ही उठता है।"

"आप और कुछ भी नहीं खाते?"

"नहीं। मेरी बीवी को पता है मैं शाम का खाना अपने मरीज के साथ खाता हूँ।"

"तब आप कटहल की सब्जी और परांठा···जगदीश!"

"अरे, अरे! क्या गजब करती हैं आप? कटहल खाने वाले तो अभी सो ही रहे हैं। सक्सेना ने अचानक गंभीर होकर मयंक की ओर देखा। तनु भी उदास निगाहों से उधर ही देखने लगी।

"लो, वह जगदीश फिर आ गया। ले आ भाई, एक प्याला कॉफी और पिला दे। हाँऽ आँ। तो आपने कहा था आज से पहले भी आप हँसी थी?"

"ओफ्फोह!" तनु शब्द के अधबीच हँसती-हँसती कराह उठी।

"ये देखिये! फिर से सुई का दर्द पूरी लात में लहर-सा उठा है।"

"बायीं तरफ ना?"

"हाँ"

"कल दायीं तरफ लगायेंगे।" सक्सेना ने संतोष से कहा।

"सारा जिस्म छलनी करके रख दिया मेरा, सुईयाँ ठुकवा-ठुकवा के अब भी डॉक्टरों को चैन न आया।"

"फिर वही उल्टी बात। चैन आपको आना है कि डॉक्टरों को?"

तनु मुँह फुलाये रही। सक्सेना दूसरा प्याला कॉफी का पीने लगा। मयंक ने एक जोरदार खर्राटा भरा। दोनों की नजरें उसके चेहरे पर जम गयीं। उसके होंठ फेन के बगुले बनाते-बनाते बुदबुदाने लगे—

"वो···वो···इंजेक्शन देने आया कि नहीं ? वही···यमदूत ?"

कॉफी पीते सक्सेना को ठुत्तू आ गया । "हैं ? यमदूत ?"

तनु ने अचकचाते हुए सक्सेना से कहा, "आप···आप महसूस न करें। मेरी लात में इजेक्शन के बाद भयंकर पीड़ा उठती है न, इसीलिए ये मुझे चिढ़ाया करते हैं।···और इस समय होश में भी तो···।"

"अजी, मेरी बीवी भी मुझे आधी रात को पानी पीते देखकर डर जाती है। कहती है, हाय जी। ऐसे हौले-हौले साये की मानिन्द न उठा करो। वक़्त-बेवक़्त यूँ बे-आवाज़ पानी पीते रहने से तो अच्छा है, तुम इंसानों की तरह···।"

"नहीं···नहीं···ऐसी तो कोई बात नहीं, सक्सेना साहब।" तनु अब भी झेंपी हुई थी।

"छोड़िये। यह बतलाइये आपने सावित्री सत्यवान की कथा तो पढ़ी होगी ? ठीक से ?" तनु उदास हो गयी।

"पढ़ी है लेकिन यमदूत से···।" उसने बीच ही में ज़ुबान काट ली।

"यमदूत से क्या ?"

"···कौन किसी को बचा पाया है ?"

"जी साब का खाना ?" जगदीश ने आकर पूछा। तनु ने लाचारी से उत्तर दिया।

"साहब का खाना ढक के रख दो। जब उठेंगे, तब ही हो सकेगा कुछ।" जगदीश लौट गया।

"सावित्री ने तो बचा लिया था, सत्यवान को ?" तनु केवल पति की ओर ताकती रही। सक्सेना उसकी आँखों में लज्जा, भय और लाचारी का उतार-चढ़ाव देखता रहा।

"लेकिन कुछ करने-धरने के लिए सावित्री पहले खुद तो सेहतमंद हो ले।"

सक्सेना के गंभीर स्वर पर, तनु चौंक गयी, परन्तु दूसरे ही पल उसका लहजा वही मजाकिया हो गया।

"अरे भई यमदूत को हराना है, उसके चंगुल से पति-परमेश्वर को छुड़ाना है। कोई मज़ाक है जो विस्तर पर लेटे-लेटे हो जायेगा ?" इस बार तनु सुस्त हो गयी।

"बिस्तर पर पड़े रहना मज़ाक नहीं है। आप न ही जानें तो अच्छा है, आसमान के नाम पर पेड़ की फुनगी और सामने वाली काई-पुती छत दिखलायी पड़ती है।"

"और सपने भी काहिल, निकम्मे से आने लगते हैं। सब लोग लेटे पड़े हैं या उबली हुई सब्जियाँ खा रहे हैं। अच्छा यह बतलाइये आपको बैठने के लिए किस डॉक्टर ने मना किया है ?"

"डॉक्टर हसन ने।" लगा तनु रो देगी।

"अच्छा ? आप बैठेंगी तो क्या हो जायेगा ?"

"मालूम नहीं। चक्कर आयेगा, शायद।"

"चक्कर ही तो आयेगा न ?"

"शायद कमजोरी की वजह से पसीना आये।"

"वापस लेट जाइयेगा।"

"दिल की धड़कन भी तो रुक सकती है ?"

"चलिये, उसकी गारंटी मैं लिए लेता हूँ।"

"लेकिन आप तो सिर्फ़···।"

"कंपाउंडर हूँ। लेकिन आपके दिल को जरूरत से ज्यादा धड़कने नहीं दूँगा। कल शाम जब मैं आऊँगा, तब आप मेरे सामने बैठेंगी।" पूरी ज़िम्मेदारी से सक्सेना बोला।

मयंक अब जागने की चेष्टा में पलक फड़फड़ाने लगा था। आखिर उसने लाल फूली हुई आँखें खोलकर सीधे सक्सेना पर दाग दीं। वह तत्काल ही उठ खड़ा हुआ।

"चलूँगा।"

तनु भी पति को जागा देख उतावली हो आयी थी।

"जगदीऽशऽ। खाना ले आ जल्दी से, देख तेरे साहब उठ गए हैं। और सुन साहब का धुला हुआ कुर्ता-पायजामा भी ले आना।"

फिर उसी साँस में वह मयंक की मनुहार करने लगी, "उठो न मयंक, यहाँ कुर्सी पर बैठ जाओ। यह बैंडपैन भी तुम्हें ही पीछे रखकर आना होगा। जानते तो हो, नौकर हाथ नहीं लगायेगा। अरे! यह क्या? तुम्हारा बिस्तर तो गीला है? सोते में? क्यों इतनी पीते हो, मयंक?"

इतने में नौकर कुर्ता-पायजामा लेकर पहुँच गया और बिना मयंक की ओर देखे कुर्सी पर पटककर जाने लगा।

"जगदीश जरा दरवाजों के परदे डाल दो।" हताश स्वर में तनु ने कहा।

"मयंक, जल्दी से उठो, कपड़े बदल लो। गीली चादर और पैन्ट गुसलखाने में डाल आओ, सवेरे माई धो देगी। उठो न मयंक। उठो···देखो, नौकर क्या कहेगा? वह सबसे कहता फिरेगा। लोग क्या कहेंगे?" तनु मयंक को झिंझोड़ने लगी, किन्तु मयंक ने फिर आँखें बंद कर ली थीं। नशे की अंधी-बहरी खुमारी ने उसे पूर्णतया दबोच लिया था। तनु ने उठंग होकर उसकी पतलून के दो बटन खोलकर उसे ढीला कर दिया। फिर पायताने से चादर खींचकर ओढ़ा दी। इतने से ही उसका दम फूल गया। उसने अपना सिर तकिये पर फेंक दिया।

"खाना लाया हूँ।" जगदीश ने बाहर से ही सपाट आवाज में कहा।

"परदे हटा दे खाना फ्रिज में रख दे। घर ठीक से बंद कर ले और जाके सो जा। और हाँ, सवेरे जमादारनी को जल्दी बुला लाना, बैडपैन साफ़ करवाना है।"

जगदीश को जाने क्या हुआ। भीतर जाके रसोई में ज़ोर से थाली पटकी, फिर कमरे में घुसकर सर्र से परदे सरकाये और झपाटे से बैंडपैन उठाकर उसे नल के नीचे बहा-धोकर ला के तिपाई पर धम्म से टिका दिया।

तनु पहले अवाक् हुई फिर उसकी आँखों में मारे ग्लानि के आँसू आ गये। वह फफक कर रो दी। जगदीश ने बत्ती बुझा दी और चला गया। खिड़की में से रात के नर्म, रेशमी साये भीतर आकर तनु को सहलाने लगे। एक फीका-सा चाँद भी खिड़की में टँगा था।

जाने कब नींद आयी और कब सपना। तनु ने देखा, भूखे बच्चों की लंबी कतार में से एक नन्हा बच्चा उसी का है। वह भूख से बिलखता हुआ, हाथ-पाँव मारता दूध माँग रहा है। कभी ललक कर, कभी मचल कर तो कभी तड़प कर। तनु कुछ देर उसे निर्लिप्त-सी देखती है, फिर पीठ मोड़कर चल देती है। बच्चे की चीख उसका पीछा करती है। नींद और सपने में बच्चे की चीख उसकी अपनी हो जाती है। चीख के साथ ही तनु खुली आँखों कमरे में भरा सुबह का उजाला देखती है। मयंक भी बिस्तर से उछलकर खड़ा हो गया।

तनु की श्वास तेज़ चल रही है, "मयंक मुझे गर्भपात नहीं करवाना चाहिये था। वह

बच्चा मुझसे अपना हक माँग रहा था।"

"यह मिसकैरिज था जो अपने-आप हो गया था।" मयंक झुंझलाया।

"नहीं, उससे पहले वाला।"

"तो, क्यों करवाया था?"

"इतनी बेतहाशा पीते रहे थे तुम! वह कैसे पलता, बड़ा होता इस माहौल में?"

तनु तकिये में सिर गाड़कर रोने लगी। मयंक अपना सिर थामे पिछली पी हुई का असर दबा रहा था।

"और इसीलिए, अब पाँच साल बाद, भगवान ने हमें यह सजा दी—हमारा बच्चा पूरा नहीं होने दिया।"

"वह पूरा था। मैं ही तो उसे श्मशान घाट पर गाड़ आया था।" मयंक तमक पड़ा।

"भगवान के लिए, चुप रहो मयंक। मुझे संबल दो। तुम मेरे पति हो।" तनु ने याचना की।

मयंक जल्दी-जल्दी तैयार होने लगा। काम करने वाली औरत और जमादारनी एक साथ ही आ गयीं। तनु चुप हो गयी। नौकर को भी बाजार भेजना था। दस बजे तक नर्स भी आ जायेगी, तनु का स्पंज वगैरा करने। तनु लेटे-लेटे आदेश देने लगी।

"जगदीश बाजार से आते ही साहब का नाश्ता लगा ले।"

"नहीं। मैं नाश्ता दफ्तर में कर लूँगा।"

"क्यों? तुमने रात भी खाना नहीं खाया?" तनु लगभग चीख पड़ी।

"मुझे जल्दी है।"

"काहे की? अभी सिर्फ़ सात बजे हैं?"

"किसी आदमी से घर पर मिलना है।"

"कौन-सा आदमी? कहाँ रहता है?"

मयंक मनगढंत कुछ बतलाने लगा।

"मुझे सब लोग इशारों में हरदम कुछ-कुछ समझाते रहते हैं, तुम्हारे बारे में। लेकिन, मयंक मैं सच्चाई को तुम्हारे मुख से जानना चाहती हूँ। मैंने इस तरह का पीना जीवन में कभी नहीं देखा। यह सब क्या है? मेरे साथ ही क्यों घट रहा है यह सब?"

"ख़बरदार! तुमने, मेरे या अपने घर वालों को कुछ भी उलजलूल लिखा तो।" मयंक ने आँखें इस हद तक तरेरीं कि उसका सूजा चेहरा भयावह लगने लगा। फिर उसने अलमारी खोलकर कोट की जेब से एक छोटी-सी शीशी निकाल ली और उसे सीधा मुख में उड़ेल दिया। गट! गट! गट! आवाज के साथ उसके चेहरे पर एक अस्वाभाविक-सी हवस और उससे फारिग हो लेने की राहत के भाव उभरते-मिटते रहे।

"पुदीन हरा था···जरा हाजमे के लिए···।"

मयंक ने कहा। तनु सकते की-सी हालत में उस अजनबी को ताकती रही जो उसका पति था। बाहर निकलकर यह शख्स अभी और पीयेगा। फिर बाजार में कचौड़ियाँ खाकर, मदहोश हुआ दफ्तर पहुँचेगा। फिर शायद पहले की तरह यह नौकरी भी हाथ से चली जाये।

"मयंक तुम कातिल हो। मेरे और मेरे अजन्मे बच्चों के।"

मयंक चला गया।

"मैं भी चली जाऊँगी—नहीं रहूँगी यहाँ।"

माई छपः छपः कपड़े धोती रही। जमादारनी खुसर-खुसर झाड़ू लगाती रही। जगदीश बाज़ार से आकर खाना बनाने लगा। तनु मुँह छिपाकर रोती रही। दिन शुरू हो गया था।

"चलिये दो तकियों के सहारे जरा उठंग होकर बैठ जाइये, नहीं तो उम्र भर यह निनानवे का फेर आपको नहीं छोड़ेगा।"

"नहीं सक्सेना साहब, डॉक्टर ने मना किया है, अभी तो रोग उनकी समझ में नहीं आया।"

"आयेगा भी नहीं। आपके तमाम टैस्ट साफ आये हैं और आपको एन्टीबायोटिक के अस्सी इंजेक्शन लग चुके हैं। ये सुईयाँ अंधेरे में निशाना दागने जैसी हैं—लग गया तो तीर नहीं तो तुक्का।"

"पर डॉक्टर···।"

"ओहो! डॉक्टर भगवान नहीं होते और आपको अब भगवान की मदद करनी है। मैं बैठा हूँ न सामने?"

तनु बेसाख्ता हँस पड़ी।

"तो आप भगवान हैं?"

"नहीं उनका दूत।"

तनु, यमदूत वाली बात याद करके फिर से झेंप गयी। उसने उठने का प्रयत्न किया।

"लीजिये मेरा सहारा ले लीजिये। घबराइये नहीं, देवी सावित्री, मैं परपुरुष नहीं, केवल हस्पताल का एक पुर्जा हूँ जैसे बैसाखियों या व्हीलचेयर।"

तनु फिर हँस दी। सक्सेना ने उसे भरपूर सहारा देकर बिठला दिया। तनु हाँफने लगी।

"बस सिर्फ़ सात मिनट।"

"मैं···मैं···। ओह!"

"अ हँ! बोलें नहीं! बाहर का नज्जारा देखें। वह देखिये पतंग। वाह! किस मजे से उड़ रही है। छत हो, खुला आसमान और मौज भरी पतंग।" सक्सेना का उछाह बरबस तनु को छू गया। वह भी ठुड्डी उठाकर पतंग देखने लगी। तोतिया हरे कोनों वाली बैंजनी पतंग नीले-धुले आकाश पर सौ-सौ बल खाती इतरा रही थी।

"कैसी मान-भरी, नाज भरी मेरी पतंग।" सक्सेना अपनी-सी कोई धुन बनाकर गुन-गुनाने लगा। पतंग उसकी लय-ताल पर नाचने लगी जैसे कोई कठपुतली हो और डोर सक्सेना के हाथ में। तनु हँसने लगी। मयंक घर में घुसा तो अचरज में आ गया। "तुम बैठी हो तनु?"

अचरज तनु को भी कम न हुआ। मयंक आज होश मे था। वह जल्दी से खिसक कर लेट गयी और उद्विग्न-सी चहकने लगी—

"मयंक आज खाना जल्दी खा लेंगे। मैंने तुम्हारे लिए फूलगोभी बनवायी है, साथ में दही की पकौड़ियाँ।"

"तुम क्या खाओगी?"

मयंक के स्वर में अपने लिए परवाह का पुट पहचान कर तनु की थकावट जाती रही।

"छैना और लौकी की तरी से दो टोस्ट खा लूँगी।" उसने जवाब दिया।

"इंजेक्शन लग गया ?"

"जी हाँ, अब चलता हूँ।" सक्सेना ने लगभग दरवाज़े से निकलते हुए कहा।

"जगदीश, खाना ले आ हमारा।" कहकर मयंक कपड़े बदलने लगा।

तनु ने राहत से आँखें मींच लीं। भगवान शाम यूँ ही सहज बनी बीतती रहे। शाम का एक बहुत बड़ा कार्य बड़ी सरलता से पूर्ण हो रहा था। टोस्ट खाते और पति को खाते देखकर तनु सोच रही थी, "इस समय घर-घर, लोग इसी तरह खाना खा रहे होंगे।"

तनु तकिये के सहारे बैठी सक्सेना की लतीफेबाजी सुन रही थी। जगदीश भी पूरी गप्प सुनने के लोभ में आसपास ही ठिठका ठहरा था।

"कॉफी और लाऊँ जी ?" उसने पूछा।

"अरे यार ! तुझे तो चस्का-सा लग गया मुझे कॉफी पिलाते रहने का। जा चल, ले आ।"

तनु ने अचानक पूछ लिया, "सक्सेना साहब आप यह अपने चेहरे को इतना कुरूप क्यों बतलाते रहते हैं ?"

"नहीं है क्या ?" सक्सेना एकदम गंभीर हो गया।

"बिल्कुल भी नहीं।" पर सक्सेना की नाटकीय गम्भीरता देखकर तनु को हँसी आ गयी। बोली, "सक्सेना साहब तमाम जीना-होना सूरत के सहारे ही होता है क्या ?"

"'होना' होता है। जीना तो खैर जीवट के सहारे···।"

बवंडर की भाँति मयंक घर में घुसा, घूरकर पत्नी की ओर देखा, फिर बिस्तर पर फैल गया। "जूते तो उतार लेते," फूँक निकले फुस्स से स्वर में तनु ने कहा।

"सक्सेना साहब इनसे इतना बुलवाया न करें, इनका बुखार बढ़ सकता है।" मयंक ने जूतों समेत तनु की ओर करवट लेते हुए कहा। शराब का भभका कमरे में फैल गया।

"वह बोल नहीं रही थी, हँस रही थी।" सपाट स्वर में सक्सेना ने प्रतिवाद किया।

"एक ही बात है।"

मयंक का निर्णय था।

सक्सेना इंजेक्शन का सामान समेटने लगा।

जगदीश कॉफी का प्याला लिए खड़ा था।

"रहने दो जगदीश, आज इसे तुम पीयो। हमारी तरफ से।"

"नहीं, नहीं ऐसी क्या बात है ?" तनु ने स्थिति संभालनी चाही।

सक्सेना चला गया।

"यमदूत !" मयंक नीम-बेहोशी में बुदबुदाया। तनु ने बेचैन-सी करवट पति की ओर बदली और एकटक उसकी बंद पलकें देखने लगीं। हल्के से उँगलियों की पोर उन पर फेरती वह सोचने लगी, बस अब भोर तक के लिए सब संवाद स्थगित थे। हो सकता है, होश आने पर वह खाना खा ही लें। शाम की सबसे बड़ी उपलब्धि वही होगी। सीधी होकर लेटी तो छत के कोनों से जाले लटके दिखलायी दिये। पंखे के ब्लेड पर भी मैल उमस में सनकर, काई-सी जमी थी। कल जगदीश को सफ़ाई पर लगाना होगा।

घर गर्द की परतों से उबर चुका था। तनु, जाले-धूल साफ़ होता देख-देखकर ही थक

चुकी थी ।

"अच्छा यह बतलाइये आपने महासती की कथा सुनी है ?" सक्सेना सुई तैयार करता पूछ रहा था ।

"सुनी है । वह केवल एक बार चिता में कूदकर पति के साथ जल मरी थी ।"

"अरे बाप रे । केवल एक बार ? मेरे तो रोंगटे खड़े हो गये ।"

"क्यों ? तिल-तिल करके आजन्म जलते रहना क्या उससे भीषण नहीं है ?"

"हूँ ।"

"आप बहुत चुप से हैं ? क्या बात है ?"

"कुछ नहीं । घर बहुत चमक रहा है ? कोई मेहमान आने वाला है क्या ?"

"इस घर में ? मेजबान कहाँ है ?"

"हाँ ! मेजबान तो बीमार बना हुआ है ।"

"बना हुआ है ?"

"तो फिर आज खड़े होकर जरा ऊँचाई से अपना घर-संसार देखिये । उठिये ।"

"नहीं ।"

"क्यों ?"

"डॉक्टर हसन···।"

"यह जिंदगी आपकी है, डॉक्टर हसन की नहीं ।"

"उन्होंने मना किया है ।"

"वह आपको हफ्ते में एक बार देखते हैं और मैं रोज़ देखता हूँ । चलिये, उठिये···मैं हूँ न यहाँ ।"

तनु आँखें मूँदे खड़ी होने लगी । लड़खड़ायी, फिर दोनों हाथों में सिर थामे स्थिर खड़ी रही ।

"आँखें खोलिये ।"

तनु ने आँखें खोल दीं । लगा उसका अपना कद खिंच कर बहुत लंबा हो गया है । उसने नीचे देखा । लगा फर्श ही पाताल में कहीं धँसा है ।

"दहलीज़ तक चली आइये ।"

तनु कदम उठाने लगी जैसे कोई बच्चा नया-नया चलना सीख रहा हो । पाँव धरती से फुट-फुट भर ऊपर उछल गये । उसने घबराकर सक्सेना की ओर हाथ बढ़ा दिया । पर, वह वैसा का वैसा दूरी पर खड़ा रहा ।

तनु को थोड़ी झुँझलाहट हुई । उसने दो-तीन कदम एक साथ लिए और सक्सेना की कमीज पकड़ ली । सक्सेना तनु समेत, धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगा और दहलीज़ पार करके, बरामदे तक आ गया । तनु घबराहट के बावजूद कभी आकाश तो कभी सड़क देखने लगी । आसपास के पेड़-पौधे और ऊपर बादल एक साथ झूमते से लगे, एक-दूसरे के लिये । बच्चों का झुंड, बेखबर-सा गेंद खेल रहा था । सर्र से मोटरसाईकल पर एक नौजवान जोड़ा निकल गया । लड़की ने खिलते हुए फालसई रंग की महीन साड़ी पहन रखी थी । बिल्कुल वैसी ही एक साड़ी तनु के पास भी थी ··नहीं, है । अलमारी में हैंगर पर टँगी है । उसकी नजर अपने घरेलू से काफतान पर गयी, वह चूहे की खाल-सा बदरंग हो चुका था । मन मचल गया, फालसई रंग

वाली अपनी साड़ी पहनने को।

"अंदर तो ले चलो मुझे, देखो कितना पसीना आ गया है ?"

सक्सेना ने अब जाकर सहारा दिया।

"देखा आपने संसार अब भी जैसे का तैसा है, कहीं, कुछ भी नहीं बदला।"

पानी का घूंट पीती तनु मुस्कुरा दी। "बुखार न बढ़ जाये ?" उसने कहा।

"न भी बढ़े।"

"मयंक न जाने क्या कहे ?"

"न बतलाना कि आज आपने लक्ष्मण रेखा पार की थी।"

"तनु हाँफती-सी हँस दी और लेट गयी।

तनु फालसई साड़ी पहने बरामदे में टहल रही थी कि एक अरसे बाद फिर सक्सेना की वही खड़खड़िया मोटरसाईकल की घड़घड़ाहट सुनाई दी। तनु ठिठक गयी। वही था। उसके चेहरे की खाल पहले से अधिक संवलायी और सख्त लगी, मगरमच्छ की चमड़ी की तरह। रंग उड़ा हैलमेट और कटोरदान थामे वह चला आ रहा था। "अब क्या काम पड़ गया इसे मुझसे ?"

"कैसी हैं ?"

"तंदुरुस्त हूँ। जगदीश तीन कुर्सियाँ यहीं खींच दो।" भीतर सक्सेना के साथ बैठने को तनु का मन न हुआ।

"अच्छा-अच्छा। परमेश्वर अभी आने ही वाले हैं ?"

"परमेश्वर ?"

"हाँ, आपके पति परमेश्वर ? आज मैं उन ही से मिलने आया हूँ।"

"उनसे ?"

जगदीश कुर्सियाँ ले आया। उसने अभी सक्सेना की तरफ ताका ही था कि सक्सेना बोल पड़ा, "नहीं जगदीश, आज भी कॉफी नहीं पीयूँगा जरा अखबार ला दे बस और आप टहलिये, मैं तो अभी बैठा हूँ।"

अंतिम वाक्य तनु से कह सक्सेना खूब इतमीनान से बैठ गया। तनु टहलने लगी और मन ही मन प्रार्थना करने लगी, "हे भगवान ! आज मयंक होशमंद घर में आये। नशे के शरूर में आये तो फिर आते ही इस बेचारे की तौहीन कर देगा।"

सक्सेना अखबार पढ़ने लगा।

तनु का बुदबुदाना जारी रहा। जरा देर बाद वह घुटा-घुटा-सा हिस्टीरिया बन गया। "हे भगवान ! मयंक आज होश में यहाँ पहुँचे।" उसने आवेश में कहा और सक्सेना की ओर देखने लगी।

"शायद ऐसा ही हो। आइये बैठ जाइये।"

मयंक पूरे होश में बाहर का गेट खोलकर आ रहा था।

"देखा आपने प्रार्थना का जादू।" कहकर सक्सेना खड़ा हो गया और तपाक से मयंक का हाथ थाम, गर्मजोशी से मिलाने लगा।

"मयंक ! आज आप से ही कुछ कहना था, मुझे।"

सक्सेना के मुख से अपने नाम का अनौपचारिक उच्चारण सुनकर मयंक चौंक गया

फिर बैठते हुए बोला, "तो बैठिये ।" "तनु चाय यहीं भिजवा दो ।"

"हाँ कुछ मैं नाश्ता भी भिजवाती हूँ।" तनु भी चौंकती-सी नजर सक्सेना पर डालती भीतर चली गयी ।

सक्सेना ने बैठते ही धाराप्रवाह बोलना शुरू कर दिया, "मेरा नाम महेश है। मैं जब सोलह साल का था तब मैंने पिताजी की शराब चुराकर पीनी शुरू कर दी थी। मैं छत पर छिपकर पीता । सोता भी वहीं था। उनकी बोतल में पानी मिला देता। धीरे-धीरे मैं अपना सारा जेब खर्च और किताबों वगैरा के लिये पिताजी से वसूले पैसे शराब पर खर्च करने लगा। कॉलिज की फीस भी इसी काम आने लगी। मैं दिन में भी नशा करने लगा। नशा उतार कर घर में घुसता, फिर छत पर सोने के लिये पहुँचता और दोबारा शुरू हो जाता। फिर शराब में पानी की मिलावट भी बुरी लगने लगी।"

मयंक दम साधे सक्सेना को सुन रहा था। उसकी आँखें कभी अविश्वास से फैल जातीं तो कभी सिकुड़ जातीं। सक्सेना बिना रुके बोल रहा था ।

"पिताजी कपड़े सिलवाने के लिए पैसे देते, मैं उनकी शराब पी जाता। कॉलिज से निकाला गया। दोस्तों ने साथ छोड़ दिया। मैं बागों में अकेला बैठा-बैठा पीने लगा। बढ़िया शराब और देसी ठर्रे में तमीज जाती रही। तृप्ति तो किसी से भी नहीं होती। फिर घरवालों पर पूरी सिद्धत से मेरी सच्चाई जाहिर हो गयी। फिर एक दूसरा सिलसिला शुरू हो गया, माँ का रोना-बिलखना और मामा-चाचा को मुझे खोजने भेजना— पिताजी का डाँटना-डपटना फिर मार-पीट और हारकर मेरी शादी करवा देना। नाटक में एक और चरित्र ठूँस दिया गया। मेरी पत्नी एक नार्मल, अनउलझी-सी लड़की थी जो जीवन में सिवा नार्मलसी के और कुछ भी न चाहती थी। वह चाहती थी हर दिन बस भला-सा गुजर जाये।"

तनु ने नाश्ता ट्रे में सजाकर बाहर भेज दिया, और स्वयं रसोई में ही लगी रही।

"और किस्मत देखिये कि भगवान ने उसके पल्ले तूफान बाँध दिया, जो चलता तो रौंदता हुआ, बोलता तो जख़्म दे देता, सोता तो मुर्दा हो जाता, फिर चाहे घर में आग लगे। सोकर जागता तो फिर पका-पकाया भोजन भी किसी को खाना नसीब नहीं होता। कभी-कभी मैं पत्नी का दुख मुल्तवी करने के लिये वायदा कर देता कि कल से नहीं पीयूँगा। वह अपना रोना अधबीच छोड़-सी जाती। मैं चुपचाप उठकर बोतल में समूचा उतर जाता और चाहता कि कोई बस ऊपर से शराब और शराब उड़ेलता रहे और मैं शराब में नहाया-अघाया, डूबा रहूँ।··· जाने क्यों हमारे दो बच्चे भी हो गये, जिन्हें वह नार्मलसी चाहने वाली लड़की हरदम मारने-पीटने लगी।"

मयंक का मुख खुला रह गया।

"यह एक ऐसा नाटक है मयंक जिस पर परदा कभी नहीं गिरता। अंतिम अंक लौटकर फिर पहले से शुरू हो जाता है। दर्शक और अभिनेता दोनों बूढ़े हो जाते हैं और इस नाटक को देखते-खेलते इतना थक जाते हैं कि रिहाई के लिए, नायक की मृत्यु की कामना करने लगते हैं।" सक्सेना अचानक चुप हो गया और चाय के घूँट भरने लगा।

"लेकिन अब तो तुम ?"

"मैंने पिछले दस सालों से शराब की एक बूँद भी नहीं पी है। गला ख़राब होने पर, कफ-मिक्सचर भी नहीं लेता।" सक्सेना हँसने लगा। मयंक ने नजरें झुका लीं। सक्सेना ने उसके

प्याले में दोबारा चाय उड़ेल दी। दोनों चुपचाप चाय पीते रहे, फिर सक्सेना उठ खड़ा हुआ।

"अब चलूंगा।"

मयंक उठ खड़ा हुआ।

"फिर कब आओगे?" उसने पूछा। सक्सेना ने देखा मयंक के हाथ बेतरह काँप रहे थे।

"जब तुम कहो, दोस्त!" उसने उत्तर दिया।

"कल?"

"जरूर आऊँगा।"

मोटरसाईकल की दूर जाती धड़धड़ाहट के मध्यम पड़ने पर ही तनु बाहर आयी।

"इतनी देर तक उससे क्या बातें हो रही थीं?" उसने कुछ व्यग्रता से पति से पूछा।

मयंक स्तब्ध बैठा रहा।

"क्या सोच रहे हो? नाश्ता भी यों ही पड़ा है। तुम्हारे लिए ही तो बनवाया था।" उसने झुंझलाकर कहा, पर मयंक की तंद्रा नहीं टूटी। वह इतना ही बुदबुदाया—"वह सक्सेना···।"

"हाँ···वही तो! तुम्हें दफ्तर से आते ही उससे माथा-पच्ची करनी पड़ गयी।" तनु ने नाश्ते की प्लेट आगे बढ़ाते हुए कहा।

"नहीं···नहीं···।"

"छोड़ो भी···लो कुछ खाओ।" तनु आग्रह करने लगी।

लेकिन दूसरे दिन सक्सेना सुबह के ग्यारह बजे वहाँ पहुँचा। घर पर केवल तनु थी।

"मैं आपसे ही मिलने आया हूँ।" उसने कहा।

तनु के चेहरे पर असमंजस था जैसे वह एक अजनबी को देख रही हो और उसमें किसी जाने-पहचाने आत्मीय के नक्श खोज रही हो। पर इस समय वह अपने पहले वाले मूड में था।

"आपने सावित्री-सत्यवान की कहानी पढ़ी है न?" उसने छेड़ते हुए पूछा।

तनु जोर से झुंझला दी।

"उस कहानी में वास्तविकता क्या है? कोरी कल्पना और आदर्श ही तो है, बस।"

सक्सेना धीमे-धीमे हँसने लगा।

"कोई कहानी इतनी कोरी नहीं होती और न निरी कहानी ही होती है।"

"कॉफी लाऊँ?" अचानक जगदीश नमूदार हो गया।

"ले आ, यार! मुझे कॉफी पिलाये बिना तुझे चैन थोड़ी। और आप?"

"पी लूँगी।" तनु के स्वर में आज लाचार मेहमान नवाजी का पुट था।

"आप अपने पति से प्यार करती हैं?"

"मुझे ऐसी इश्तहारी भाषा पसंद नहीं।"

"मैं बिल्कुल गंभीर हूँ।"

"वे अगर मुझसे जरा-सा भी प्यार करते तो इस तरह पीते—नहीं।" तनु की झुंझलाहट रुलाई में बदलने को हुई कि इतने में सक्सेना हँसने लगा, धीमे-धीमे जैसे वह अकेले नहीं तनु के साथ मिलकर हँस रहा हो।

"आप बिल्कुल सही मायने में शराबी की पत्नी हैं।"

सुनकर तनु की आँखों में क्रोध चमकने लगा।

"कैंसर के मरीज की पत्नी को यह कहते कभी नहीं सुना कि अगर तुम मुझे प्यार करते तो तुम अपने को कभी कैन्सर नहीं होने देते ?" सक्सेना ने पूछा।

"वह एक भयंकर बिमारी है, जो जानलेवा भी हो सकती है।"

"हाँ आँ, वही तो।" सक्सेना उस लंबी हाँ आँ के पश्चात् इतमीनान से पीछे होकर बैठ गया। कॉफी आ गयी। दोनों गुमसुम से कॉफी पीते रहे। फिर अचानक सक्सेना बोला, "तनु, सीमा से बाहर होकर पीना एक भयंकर बिमारी ही है। मेरा विश्वास करो तनु !" सक्सेना के मुख से अपना नाम इतने आग्रह और अपनेपन से पुकारे जाने पर तनु घबरा-सी गयी। उसने फौरन पति-प्रेम की आड़ ले ली।

"लेकिन मेरा प्रेम उन्हें पीने से रोक क्यों नहीं लेता ?"

"तुम अपने प्रेम से क्या किसी का कैन्सर ठीक कर सकती हो ?"

तनु चुप रही।

"देखो तनु, मैं एक पता तुम्हें देता हूँ। वहाँ आज शाम को सात बजे, मयंक को लेकर चली आना।"

"मैं कहीं भी, इसके कहने भर से जाने वाली नहीं हूँ।" तनु ने मन-ही-मन सोचा पर उसी पल सक्सेना चहक उठा।

"डरो नहीं, मेरे जैसे और भी कई यमदूत वहाँ होंगे। मैं भी वहीं मिलूँगा।" "आपसे मिलने की मुझे चाह है, यह कैसे समझ लिया ?" इस बार भी तनु के मन में उठती हलचल सक्सेना ने भाँप ली—

"अरे भई वहाँ और भी कई सात फेरों की गुनाहगार आया करती हैं।" कहकर वह हँसने लगा।

उसके इस अंतिम जुमले पर तनु तिलमिला गयी। पर सक्सेना चला गया।

"तनु ?...तुम ? ये कैसे संबोधन हैं ? क्यों, सक्सेना मेरी उन दिनों की लाचारी को भुला देना चाहता है ?"

इसी सोच को लेकर वह रात बिस्तर में घुसी और सोच को साथ लेकर सुबह उठी।

यह सक्सेना अब मयंक की आड़ लेकर इस घर में प्रवेश पाना चाह रहा है। पति में कोई ऐब हो तो पत्नी को कितना सतर्क रहना पड़ता है।

अगली शाम, तनु बेहद घरेलू मिजाज में पति के इर्दगिर्द मंडराती, खटर-पटर करती फिरती रही थी। मयंक की गंभीर, बा-होश मुख-मुद्रा भी उससे छिपी न थी। न जाने क्या बकता रहा सक्सेना कल मयंक से।

दरवाजे की घंटी ने दोनों को चौंका दिया। दोनों एक साथ दरवाजे की ओर ताकने लगे। जगदीश ने ही आकर दरवाजा खोला।

"अरे आप, कंपोडर साहब। आइये-आइये बीबीजी घर पर ही हैं।" जगदीश ने स्वागत किया।

"बेवकूफ कहीं का। साहब घर पर ही हैं, नहीं कहना चाहिये था ?" तनु के मन की कुढ़न सूरत पर छा गयी।

"आ गये ?" मयंक ने आश्चर्य से कहा और उठ खड़ा हुआ। सक्सेना केवल उसी की

ओर देखकर मुस्कुराने लगा ।

"चलो चलें ।" मयंक की रगों में मानो बिजली दौड़ रही थी । दोनों तनु की ओर बिना देखे ही चल दिये ।

मयंक, सक्सेना की मोटरसाईकल पर पीछे बैठ गया था । मोटरसाईकल पर बैठने से तो इसके पति को बेहद परहेज था ? तनु अवाक् सोच रही थी ।

रात दस बजे, वही मयंक को घर छोड़ गया । दोनों की साँझी खिलखिलाहट जरा देर को रात्रि की नीरवता और तनु के मन की घुटन तोड़ गयी । दूसरे ही पल लगा वह उस हँसी में शामिल क्यों नहीं थी ?

सक्सेना बाहर ही से विदा हो गया ।

"कहाँ गये थे ?" तनु ने पति से साधिकार पूछा ।

"एक जमावड़े में ।" सुनकर तनु ने अचकचा कर दृष्टि पति पर टिका दी । यह कौन-सा मयंक था ? इस कदर बाहोश ?

"खाना लगवाओ न तनु !" कहकर मयंक कपड़े बदलने लगा ।

"जगदीऽश । मनु ने मानो नौकर को नहीं ईश्वर को पुकारा हो । वही पुरानी बेकली एक बार फिर उसकी आवाज में उतर आयी थी ।

"क्या बात हो गयी ? बहुत भूख लगी है क्या ?" मयंक ने ही सहजता से पूछा ।

दो रोज बाद मयंक फिर से कही पहुँचने की उतावली में था ।

"कहाँ जा रहे हो ?"

"जमावड़े में ।"

"......"

"सक्सेना लेने आ रहा है ।" मयंक ने इतमीनान से जोड़ा । "उसके लिए इतना संवरना ज़रूरी है क्या ?" मयंक तनु के प्रश्न पर मुस्कुरा दिया ।

"क्या होता है वहाँ ?"

"बातें । चाय-वाय ।"

"सिर्फ़ बातें ?" ईर्ष्या की एक तीक्ष्ण लहर तनु के अंतस्थल में उठने लगी ।

"सिर्फ़ बातें ? शब्द ही तो बार-बार दोहराये जाने पर मंत्र बन जाया करते हैं तनु !"

"और अमल में ले आने से जादू ।" सक्सेना ने बात पूरी कर दी ।

"आओ दोस्त ।" मयंक जल्दी-जल्दी टाई में गिरह डालने लगा ।

"उहूँ ! ठीक नहीं लगी । लाओ मैं बाँध दूँ ।" कहकर सक्सेना उसकी टाई की गाँठ बाँधने लगा ।

तनु का तन जलने लगा । जब मदहोश था तब मेरे पहलू में पसरा रहता था और अब जब बाहोश है तब यह यमदूत उसके पति को उससे छीने ले रहा है ।

पल भर को सक्सेना की नजर तनु से मिली । लगा मानो उसने कहा हो--

"मैं तुम्हारे लिए इस घर में कभी नहीं आया, तनु, आज भी नहीं और तब भी नहीं ।" फिर वह नजर दोस्ती के रंग में रंगी मयंक की ओर लौट गयी ।

"चलो-चलें ।" दोनों ने एक साथ कहा । इतना अकेला तनु ने अपने आपको कभी नहीं पाया । ●

# ज़िन्दगी का आखिरी कथानक

☐ **ज्ञानप्रकाश विवेक**

सीमान्त वापिस लौट रहा है। गेट तक पहुँचते-पहुँचते ठिठक गया है। हाथ में पकड़ा हुआ ब्रीफकेस उसने वहीं रख दिया है। बगल में लटका झोला भी पटक दिया है ज़मीन पर। पाँव के नीचे सूखे पत्तों की उदास चरमराहट उसे बेचैन करने लगी है। वह पाँव हटा लेता है। शहतूत के पत्तों को पाँव के नीचे दबाना उसे अच्छा नहीं लगता। नंदिनी ने तो लगाया था यह शहतूत !

उस शाम को सीमान्त चुपके से आ गया था नंदिनी के घर। चुपचाप गेट खोलकर दबे पाँव बगीची तक पहुँचा था—किसी जासूस की तरह। वह सोच रहा था अचानक चौंका देगा, लेकिन नंदिनी की जैसे पीठ पर भी आँखें उग आई थीं। वहीं, ज़मीन पर खुर्पी चलाते-चलाते बोली थी—"सीमान्त, आहटें तहा कर जेब में रखने की चीज़ तो नहीं। वे पाँव के नीचे रहती हैं और धरती पर अपना संगीत छोड़ती हैं।"

झेंप-सा गया था सीमान्त ! फिर बात बदलते हुए बोला था—"क्या उगा रही हो ?"

"उगा हुआ तो है, मैं तो रोप रही हूँ।" नंदिनी के उत्तर पर सीमान्त फिर मुँह के बल गिरा था। अब क्या पूछे ? अक्सर ऐसी ही होती थीं नंदिनी की बातें। ऐसे में सीमान्त बावरों की तरह इधर-उधर देखता रहता। मानो नंदिनी के सवालों के जवाब पेड़ पर, दीवारों पर या आसमान पर लिखे हों।

"शहतूत लगा रही हूँ।" नंदिनी ने सीमान्त पर दया-सी बरतते हुए जवाब दिया था।

"शहतूत ऽऽऽ? शहतूत भी लगाने की चीज़ है···"

"···तो ?···तो क्या युक्लीप्टिस लगाऊँ ?"

"हाँ।"

"शहतूत क्यों नहीं ?"

"क्योंकि ये देहाती किस्म का पेड़ है।" बस इतना ही कह पाया था सीमान्त। गुस्से में बोली थी नंदिनी—"देखो सीमान्त, पेड़ों का इस तरह वर्गीकरण मत करो। मेरा बस चले तो कीकर बो डालूँ यहाँ। पता है कितना सीधा, कितना सहज होता है कीकर ? भीतर-बाहर वही का वही। और उसके काँटों में इतनी आत्मीयता कि शरीर के भीतर धँस जाएँ बिना किसी औपचारिकता से···" एकदम चुप हो गई थी नंदिनी सीमान्त को देखते हुए बोली थी—"लगता है मेरी कीकर का शोध-प्रबंध तुम्हें अच्छा नहीं लगा।" और फिर खिलखिला कर हँस पड़ी थी।

कितना बड़ा हो गया है शहतूत का पेड़ ! सीमान्त एकटक शहतूत को देख रहा है जैसे

गुजरे वक़्त के टूटे लम्हों को शहतूत के पत्तों में ढूँढ़ रहा हो। लगता है वक़्त के परिन्दे अपनी तमाम चहचहाहटें उठाकर उड़ गए हैं, जो है वह औंधे मुँह पड़े आसमान की चुप्पी है जिसमें आवाज़ों के सारे शहर दब गए हैं।

सीमान्त अन्यमनस्क-सा खड़ा है गेट के पास यहीं। पास ही लॉन में कुर्सी डालकर बैठी होती थी नंदिनी। सीमान्त को देखती तो भागकर गेट तक जाती और सीमान्त को अन्दर ले आती और बड़े नाटकीय अंदाज में कहती—"माँ बदौलत ! यह कुर्सी यानी दरबारे-खास कब से आपकी इन्तजार में है। तशरीफ रखिये। और अपनी रिआया को हुक्म दें कि आप चाय नोश फरमायेंगे या कॉफी ?" इतना कहकर एक निश्छल-सी हँसी हँस देती नंदिनी। वह एक ऐसी हँसी होती जिस पर कई-कई ऋचाएँ लिखी जा सकती थीं।

सीमान्त गेट के पास खड़ा है। कोई भी गेट तक छोड़ने नहीं आया, न कोई लेने आया था। धूप में कहीं कोई कुर्सी भी नहीं बिछी हुई। फिर भी सीमान्त वहीं ठिठका हुआ है, उसे उम्मीद है आवाज़ों का जमा हुआ शहर पिघलेगा, कोई आवाज़ हरकत में आएगी और बढ़कर उसका हाथ पकड़ लेगी।

चार जनवरी का दिन था वह ! गेट पर खड़ी थी नंदिनी। सीमान्त को देखकर बनावटी गुस्से में बोली थी—"पता है कब से इंतजार कर रही हूँ लाट गाँव की ?"

"क्यों कोई खास बात थी आज ?"

"हाँ।"

"क्या ?"

"अन्दर चलो बताती हूँ।"

सीमान्त तो डरा-डरा, सहमा-सहमा-सा लॉन तक आया था। पता नहीं क्या बात है ? नंदिनी की बातें होती भी तो बड़ी अजीब थीं।

कुर्सी पर बैठने का आदेश, आँखें बंद करने का आदेश और फिर आँखें खोलने का आदेश सब कुछ एक-दो मिनटों में।

सीमान्त ने आँखें खोलीं तो अचकचा कर रह गया। सामने केक था—फूलों के बीच घिरा हुआ। फूलों में रखी हुई थी एक चिट—इन खिलते हुए फूलों की ओर से जन्मदिन की बधाई···आओ यह उत्सव हम मिलकर मनाएँ।

सीमान्त की हालत तो देखने लायक थी। कभी वह केक को देखता, कभी फूलों को, कभी नंदिनी को तो कभी लिखी हुई चिट को।

"मेरा जन्मदिन···?···मेरा जन्मदिन आज···मेरा···लेकिन मुझे तो पता नहीं।"

"मुझे तो है।" मंद-मंद मुस्कराते हुए नंदिनी ने कहा था।

"क्या सचमुच मेरा जन्मदिन मनाने के लिए किया यह सब ?···तुम्हें कैसे मालूम हुआ कि मेरा आज जन्मदिन है ?"

"मूर्ख दी ग्रेट ! तुम अपने प्रमाण पत्र छोड़ गए थे यहाँ एक दिन। मैंने देखे थे और उसमें से तुम्हारी डेट ऑफ बर्थ मैंने नोट कर ली थी, समझे ?"

कृतज्ञ भाव से देखता रहा था सीमान्त ! इस अनुराग को क्या नाम दे ?···इस अनुभूति का अनुवाद कैसे करे ? उसे खुद अपने जन्मदिन का पता नहीं और नंदिनी है कि उसके जन्मदिन को मना रही है—पूरे उत्सव की भाँति ! सचमुच, उस वक़्त नंदिनी की आँखों में आकाशगंगा-

सी नजर आई थी और वह किसी सितारे-सा झिलमिला रहा था उस आकाशगंगा में।

सीमान्त खड़ा है एक ऐसे लुटे-पिटे मछेरे-सा जिसके हाथ में न कश्ती रही हो न चप्पू! जिसकी मुट्ठी से तमाम लहरें फिसल गई हों।

नंदिनी के भाई ने दिया था खत—लो सीमान्त, यह खत उसने तुम्हारे लिए लिखा है। कई दिन तक लिखती रही थी। कुछ लाइनें लिखती, थक जाती तो तकिये के नीचे रख लेती थीं खत को; थोड़ा आराम करती और फिर लिखने बैठ जाती। खत लिखते-लिखते वह अपनी सारी वेदना भूल जाती। बेचैनी और छटपटाहट को वह कहीं दूर पटक देती। तब ऐसा महसूस होता वह किसी दूसरे जहाज में चली गई है। दूर कहीं अतीत के बादलों को पकड़ने दौड़ पड़ी है। वह जब-जब तुम्हें पत्र लिखती एक उदास-सी मुस्कान उसके होंठों पर विद्यमान रहती। उस मुस्कान में ढेरों उलाहने थे सीमान्त! तुम होते तो समझते उस मुस्कान का अर्थ। ल्युकोमिया से पीड़ित कोई लड़की अपने प्रेमी को पत्र लिखे—कई-कई दिन तक, रात-बेरात, अपनी तमाम तकलीफों को भूलकर···तब उसके होंठों पर उतरी उस जर्द-सी मुस्कान के कितने गंभीर अर्थ रहे होंगे सीमान्त!···

सीमान्त वो चल-फिर नहीं सकती थी। दो कदम चलती तो साँस फूल जाते थे। वह तुम्हें पत्र लिखना चाहती थी लेकिन कागज-पेन किससे माँगती? ल्युकोमिया के मरीज को दवाइयाँ, खून, इंजेक्शन चाहिए न कि कागज-पेन!

मेरे कोट की जेब में पेन को उसने अच्छी तरह से देख लिया था। हम सब दूसरे कमरे में थे, नंदिनी चुपके से उठी थी, कोट से पेन निकालकर वापिस अपने बेड तक आई थी। लेकिन रास्ते में ही पाँव कँपकँपा गए थे। गिर पड़ी थी। हम भागकर आये थे। उसे उठाकर बिस्तर पर लिटाया था। उसकी मुट्ठी में पेन अब भी था। बिना कोई कहानी गढ़े साफ़-साफ़ कह दिया था उसने—"मुझे सीमान्त को खत लिखना है।"

···और उसके बाद वह तुम्हें खत लिखने लगी थी। अगर जिंदा रहती तो यह खत शायद किताब ही बन जाता।

···सीमान्त, एक दिन मैंने उसे टटोलते हुए कहा था—"नंदिनी, तुम्हारा सीमान्त स्टेट्स में है, तुम्हें वहाँ ले चलते हैं। वहाँ अच्छा इलाज हो जाएगा।" और तभी फीकी-सी हँसी हँसकर उसने पूछा था—"भैया, स्टेट्स में ल्युकोमिया से कोई नहीं मरता क्या?···मृत्यु तो हर जगह संभव है। मौत के डर से यहाँ-वहाँ भागती फिरूँ।"

सीमान्त! वो तुमसे बेहद प्यार करती थी। लेकिन जब उसकी बीमारी की बात तुम्हें लिखने के लिए उसे कही तो तिलमिला उठी—"नहीं भैया, सीमान्त को पत्र मत लिखना। मुझे सहानुभूतियों के खोटे सिक्के नहीं चाहिए।"

देखो न, मुझे पत्र लिखने से रोकती रही और खुद कितना बड़ा पत्र लिखकर छोड़ गई तुम्हारे लिए! उसे शायद मालूम हो गया था जब तुम इस पत्र को पढ़ोगे वह महाप्रस्थान कर चुकी होगी।

सीमान्त, बीमारी ने उसका शरीर खण्डहर जैसा बना दिया था और उस खण्डहर में तुम्हारी यादें किसी प्रेत की तरह डेरा जमाए हुए थीं। कहीं वह भीतर से दरकती गई थी धीरे-धीरे। चुपचाप पीती रही थी तमाम पीड़ाएँ—अकेले ही।

एक दिन बड़ी कातरता से बोली थी—"भैया, मुझे नीचे ले चलोगे, गेट के पास ?"

मैं समझ गया था नंदिनी का आशय कि वह गेट के पास क्यों जाना चाहती है। और उसकी परिणति का मुझे पता था। फिर भी मैं नंदिनी को नीचे ले आया था। वह गेट के पास बैठकर आते-जाते लोगों को देखती रही थी। उन लोगों में शायद तुम्हें तलाश कर रही थी। नजरें थी कि बाहर लगी थीं। बहुत देर गुजर गई थी। कुर्सी पर इतनी देर तक नंदिनी तो कभी नहीं बैठी थी। जल्दी थक जाती थी। अब भी वह थक चुकी थी। उसकी नजरें भी थक गई थीं लेकिन कोई अहसास था, कोई आस थी जो उसे उठकर नहीं आने दे रही थी।

अन्ततः मैंने ही कहा था—"चलो नंदिनी तुम थक गई हो। सीमान्त यहाँ नहीं रहता, वो अब इधर से नहीं गुजरेगा।"

और तब वो मुझे देखती रही थी, देखती रही थी। उसका वह देखना मैं तो सहन भी नहीं कर पाया था। लगता था उसकी आँखें किसी घायल हिरणी की आँखें हो गई हैं। मेरे गले लगकर सुबकने लगी थी…।

सीमान्त! वह तुमसे कुछ भी नहीं माँगती थी। उसकी बेचैन-सी आँखें कुछ ढूँढ़ती रहतीं, कुछ टटोलती रहतीं। हाँ, एक दिन उसने कहा था—"भैया, एक छोटा-सा केक ले आना बाजार से।" हम घर के लोग तो पुलक उठे थे, चलो कोई इच्छा तो व्यक्त की।…केक को उसने खुद दुबले पतले हाथों से काटा था। एक टुकड़ा केक का हाथ में लेकर बैठी रही थी। हमने सोचा था इसे वह खुद खाएगी या किसी को देगी। लेकिन उस टुकड़े को उसने कागज में लपेट कर रख दिया था। हम सब हैरान नजरों से उसे देखते रहे थे। तब वह बोली थी—"भैया बाकी केक आप सब खा लो।"

"लेकिन तुम भी तो खाओ न।"

"मेरा मन नहीं खाने को।"

"फिर मँगाया किसलिए था ? मैंने झुंझलाकर पूछा था।

"भैया आज चार जनवरी है न ?" सीमान्त का जन्मदिन है आज !"

सीमान्त! मैं चिरता हुआ महसूस करने लगा था। नंदिनी स्वयं मौत के जंगल में भटक रही थी और तुम्हारा जन्मदिन मना रही थी।…कई दिन तक वह केक का टुकड़ा कागज में लिपटा पड़ा रहा था। मेज पर दवाइयों की शीशियाँ और बीच में केक का टुकड़ा, अजीब किस्म का अहसास था…।

मम्मी से बार-बार वे किताबें माँगती थी नंदिनी, जो तुमने उसे दी थीं। किताब खोलकर बैठ जाती जहाँ-जहाँ तुमने पंक्तियों को अंडर लाइन किया होता वहाँ अपनी उँगलियाँ घुमाती रहतीं…तुम्हें खुद उसने स्टेट्स जाने के लिए तैयार किया था और खुद तुमसे रूठ बैठी थी। तुम इन दो वर्षों में लौटकर आये भी तो नहीं थे। एक-दो पत्र डालकर तुमने चुप्पी साध ली थी। तुम मेरे मित्र थे लेकिन नंदिनी के लिए तुम बहुत कुछ थे। कभी-कभी नंदिनी मुझे ऐसे देखती थी जैसे तुम्हारी शिकायतें मुझे कर रही हो।

सीमान्त अब भी गेट के पास खड़ा है। शहतूत के कुछ पत्ते उठाकर जेब में भर लिए हैं उसने! जैसे ये पत्ते न हों, नंदिनी की चिट्ठियाँ हों, जैसे नंदिनी के स्पर्श हों, जैसे नंदिनी के उलाहने हों, जैसे नंदिनी का बहुत कुछ छुपा हो इनमें।

गेट खोलकर बाहर निकल आया है। सड़क के किनारे-किनारे चलने लगा है। कितनी

अपनी-सी लगती थी यह सड़क ! आँख मूँद कर भी बता सकता था—कहाँ गड्ढा है, कहाँ स्पीड ब्रेकर है, कहाँ थोड़ी ढलान है और कहाँ ऊँचाई ! लेकिन अब यह सड़क बहुत पराई नजर आती है। कोई ताल्लुक भी तो नहीं रहा उसका इस सड़क के साथ।···तब, जब वह नंदिनी के साथ होता था, ऐसा महसूस होता था जैसे यह सड़क भी उँगली पकड़कर साथ-साथ चल रही है और उनके संवादों के बीच अपने संवाद जोड़ रही है।···अब यह सड़क संवादहीन होकर पड़ी है। सड़क ही क्यों, वह खुद भी तो संवादहीन होकर रह गया है। किससे बोले ?···कौन सुनेगा ?

दीवारों और पेड़ों के साये सड़क पर बिखरे पड़े हैं--बिलकुल वैसे जैसे कोई बुढ़िया अपनी गठरी खोले और सारा सामान फैला दे इधर-उधर !···

दीवारों, छतों और पेड़ों से उतरती-चढ़ती धूप को देखकर एक बार नंदिनी ने कहा था—सीमान्त, मुझे तो यह धूप भी गिलहरी की तरह लगती है।"

"और हवा···हवा क्या लगती है ?" मजाक-सा करते हुए पूछा था सीमान्त ने।

"हवा !···हवा तो मुझे ऐसी लगती है जैसे अखबार खोलकर बैठी कोई अबोध बालिका।" गम्भीर होकर जवाब दिया था नंदिनी ने।

लगता है हवा अब भी अखबार पढ़ रही है—सूखे, उदास, जर्द पत्तों के ढेरों अखबार हैं उसके हाथ में।

सीमान्त झील के पास आकर बैठ गया है। एकदम सुनसान है यहाँ। दूर कहीं लोगों का शोर है जो यहाँ तक आते-आते ठिठक गया है। यहाँ रेत है, खामोश सीपियाँ है, खोखले शंख हैं, सर पटकती लहरें हैं—और वह है। वह यानी सीमान्त।

एक दिन ऐसे ही नम हो आयी आँखों से झाँकते हुए नंदिनी बोली थी—"पत्थरों पर नाम खोद लेना तो एक शगल होता है, लहरों पर नाम लिखना कविता होती है, है कि नहीं ?"

सीमान्त नंदिनी का खत पढ़ने लगा है—सीमान्त, अचानक यह पत्र पाकर तुम्हें हैरानी होगी, शायद असुविधा भी। मालूम नहीं, मेरा नाम तुम्हारे हाथ की स्लेट पर अब भी लिखा है या मिट चुका है। समय भी तो यक्ष की भूमिका निभाता है। हमेशा प्रश्नों के जंगल में छोड़ देता है—तन्हा ! मरीचिकाओं को ओक से पीने की खुशफहमी हम हमेशा पालते रहते हैं और अपने आप से ठगे जाते हैं।···सीमान्त ! स्मृति की मरी हुई तितलियों को हाथ में ले बैठना हिमाकत नहीं तो और क्या है ? मन भी कितना बावला है, अस्ताचल के सूरज को पूरब में उगाना चाहता है।

सीमान्त ! जिन्दगी की व्याकरण पढ़ते-पढ़ते थक गई हूँ। अब मैं जीवन-मृत्यु के बीच एक संधि मात्र हूँ—एक हाइजन !···मन भी अजीब शय है, दुःख में उसी को याद करता है जो उसे सबसे ज्यादा प्रिय हो। अपना दुख सुनाते हुए हम वहीं लौट जाते हैं। जहाँ हमने सुख की यात्रा आरम्भ की थी।

सुख !···सुख के सब सितारे मुरझा गए हैं। सारे चाँद अंधे हो गए हैं। जिन्दगी के शिविर में मैं पड़ी हूँ और बाहर मौत छावनी बनाकर। नहीं, मौत का भय नहीं। भय तो इस जिन्दगी का है जो दूसरों के लिए बोझ हो गई है।

सीमान्त, सचमुच तुम बहुत याद आते रहे हो इन दिनों। गुल्लक में रखे अतीत के सिक्के निकालकर बार-बार देखती रही हूँ, और बिस्तर पर पड़े-पड़े तुम्हें ढूँढ़ती रही हूँ।·· मन करता

है पैरों में बवण्डर बाँध लूँ और निकल पड़ूँ इस महानगर की सड़कों पर। लेकिन विशेषताएँ भी तो अष्टधातु की बेड़ियाँ बन जाती हैं कभी-कभी। सीमान्त मेरे पाँव सूजे हुए हैं और साँसों के साथ पत्थर बँधे है। यही बिस्तर मेरा विश्व है, तुमने जो मेरी आँखों में विशाल आकाश की कल्पना की थी, वह सिमट कर छत जितनी हो गई है।

सीमान्त! खिड़की से आकाशगंगा को देखना कैसा लगता है? एक ठण्डा-सिकुड़ा हुआ चाँद, खिड़की की सलाखों में आकर बैठ जाता है कभी-कभी। सब सो जाते हैं। एक मैं जागती रहती हूँ और उस कटे अधूरे चाँद से बातें करती रहती हूँ। कमरे में चुप्पी किसी प्रशान्त महासागर जैसी फैल जाती है और मैं लड़ती रहती हूँ उस चुप्पी से। खुलकर कराह भी नहीं पाती कि किसी की नींद में खलल न पड़े। मैं होती हूँ, जख़्मी आँखें होती हैं और उन जख़्मी आँखों में सपनों के जुगनू होते हैं।···कभी-कभी सोचती हूँ मृत्युशय्या पर पड़ा व्यक्ति सपने क्यों देखता है?

याद है सीमान्त! हम दोनों ने एक रात जागकर गुजारी थी। ऐसा लगता था जैसे हम चाँदनी की पगडंडियों पर भाग रहे हैं और हमारे नक्शेकदम कहानियाँ लिख रहे हैं।

मैंने तो कह भी दिया था सीमान्त तुम्हें—"मेरे और तुम्हारे बीच जो सीमान्त रेखा है चाहो तो मिटा दो और खत्म कर दो यह दूरी भी।"

"नहीं!" तुम्हारे भीतर किसी विश्वास के उपजे सूरज ने जवाब दिया था—"आज तुम्हारी माँ किसी विश्वास के आधार पर छोड़ गई है इस घर में, इस अकेले घर में तुम्हारे साथ! और मैं उस विश्वास को खंडित कर बैठूँ···जानती हो नंदिनी, खंडित विश्वास शीशे की किरचें होते हैं, जो पैरों में नहीं, आँखों में चुभते हैं उम्र भर।"

सीमान्त! क्या बताऊँ, उस रात तुम कितने महान लगने लगे थे मुझे। सच, मेरा सीमान्त मुझे आसमान से भी बड़ा दिखाई देने लगा था।···कोई प्रतिबंध नहीं था, कोई वर्जना नहीं थी—मैं थी, तुम थे, अकेलापन था, चाँदनी रात थी और वह सब था जो किसी भी व्यक्ति को विश्वामित्र जितना कमजोर बना सकता था।···तुम चाहते तो जिस्म की लकीर को पार कर जाते। मुझे पा लेते और एक बेहद मामूली इंसान बनकर रह जाते।···उस रात मैं अपने यकीन तुम्हारे भीतर ढूँढ़ने लगी थी। उस रात मैं तुम्हारे घुटनों में सिर रखकर लेटी रही थी। तुम मेरी आँखों में विश्व बुनते रहे थे। कितना अच्छा लग रहा था यूँ एक-दूसरे को देखते जाना मानो हम एक-दूसरे की आँखों को किताब समझकर पढ़ रहे हों।

सीमान्त! मेरी आँखें अब किताब जैसी नहीं रहीं। गहरी-सूखी बावड़ी जैसी हो गई हैं—झाँको तो डर लगने लगे। मैं खुद किसी अशांत दरिया की भटकती लहर जैसी हो गई हूँ। मन नहीं करता किसी शिवाले के अवशेष से अब शांति की भीख माँगू।

याद है सीमान्त, एक बार मैं तुम्हारे घर आई थी। एक अदद कमरा तुम्हारा घर ही तो था। तुमने झाड़-पोंछकर कुर्सी मेरे आगे की थी। कुर्सी! बाबा आदम के जमाने की। कुर्सी की एक हत्थी गायब थी, दूसरी हिल रही थी। यूँ तो पूरी कुर्सी ऑक्सीजन को साँस लेती प्रतीत होती थी। और चाय जिसमें तुमने दी थी उस कप की डंडी ही नहीं थी। मैंने तुमसे पूछा था—"सीमान्त! इसे पकड़ूँ कैसे?" तुम झेंपते हुए बोले थे—"इसकी डंडी आज ही टूटी है।" उस वक़्त तुम्हारा शर्माना लज्जाना, तुम्हारी सरलता और सादगी मुझे मुग्ध कर गई थी।

कमरे से बाहर निकलकर तुमने मुझसे बीस रुपये माँगे थे उधार स्वरूप। याद है न! मैं

तो हैरान रह गई थी। अचानक बीस रुपये की ज़रूरत क्यों पड़ गई ? थोड़ी देर में राज खुला था। तुमने दो कप-प्लेट खरीदे थे और सोलह रुपये फूंक दिये थे। और फिर इतराते हुए बोले थे—"चलो नंदिनी अब इन कप-प्लेटों में चाय पीयेंगे।" उस वक़्त सचमुच तुम बहुत भोले नजर आए थे। अपनी प्रेमिका से पैसे उधार लेकर कप-प्लेट खरीदे थे। उन्हीं नये कपों में उसे चाय के लिए दावत दी जा रही थी।

···भैया बता रहे थे तुमने गाड़ी खरीद ली है—शायद वाक्सवेगन। वहाँ बिजनेस भी तुम्हारा चल निकला है।···सोचती हूँ क्या याद होगा तुम्हें—टूटे कप में चाय पिलाना और बिना हत्थी वाली कुर्सी पर बिठाना !···परिवेश बदलने से अतीत तो नहीं बदलता। अतीत तो वही रहता है न ! कभी न कभी याद का आसमान, ज़िन्दगी की किताब में पड़ा मिल ही जाता है—ज़िंदा मोरपंख की तरह !

याद है कभी-कभी हम स्टेशन पर जा बैठते थे। रुकती-चलती गाड़ियाँ, चढ़ते-उतरते लोग, हॉकरों का शोर, कुलियों का सामान उठाना, टिकट कलैक्टर की डाँट-डपट कुछ देर के लिए एक शहर बसता था और कुछ देर के बाद एक शहर उजड़ जाता था। एक ख़ामोशी पसर जाती। लगता कि कोई चिड़िया उस खामोशी के तिनके उठाने आ बैठी है प्लेटफार्म पर। तब हम प्लेटफार्म के दूसरे छोर तक निकल जाते। जंगलों के साथ-साथ उगी हुई बोगनवेलिया और फर्श पर बिछा बदरपुर। हम चलते तो कई-कई आवाजें निकलतीं प्लेटफार्म से।

उस रात पता है कैसा सपना आया ? बड़ा भयावह। सचमुच, मैं तो डर गई थी—मैं हूँ कि गाड़ी को पकड़ने के लिए दौड़ रही हूँ—बेतहाशा। तुम उस गाड़ी में सवार हो गए हो और मैं रह गई हूँ नीचे। गाड़ी के पीछे मैं निरन्तर भाग रही हूँ। तुम अपना हाथ बढ़ाते हो। मैं चाहती हूँ तुम्हारा हाथ पकड़ लूँ। लेकिन तुम्हारे हाथ में मेरा हाथ नहीं आ पाता। गाड़ी के तमाम डब्बे प्लेटफार्म से निकल गए हैं। गाड़ी के पीछे का तेल लेम्प एक बिंदु में बदल गया है। मैं हाँफ रही हूँ, भाग रही हूँ, अचानक पटरियों में मेरा पाँव उलझता है। मैं गिर पड़ती हूँ। किसी पटरी से या पत्थर से मेरा माथा टकराया है। खून की एक लकीर निकलने लगी है माथे मे। मैं सिर उठाकर देखती हूँ, समय का यक्ष मुझ पर अट्टहास कर रहा है···

सीमान्त, इस सपने के बाद मैं थर थर काँपती रही थी। यह कैसा अहसास था। यह सपना था या कोई-कोई यथार्थ की चट्टान से टूटा पत्थर ?

मेरी मेज पर दवायें हैं, कैपसूल हैं, इंजेक्शन हैं। ये दवायें कवच हैं—पोलीथीन के कवच ! गोलियाँ खाना और कुछ साँसें उधार लेना। रक्त की कुछ बोतलें शरीर में बदल लेना और कुछ दिन मौत को आगे सरका देना···बड़ा तलख होता है प्रत्येक दिन मृत्यु दिवस के रूप में मनाना और फिर भी ज़िन्दा रहना।

तब इस मेज पर दवाई की शीशियाँ नहीं तुम्हारे द्वारा दी गई किताबें होती थीं। हम किताबें पढ़ते थे फिर बहस करते। ओ हेनरी की कहानी 'थ्री लीवज' हम दोनों ने एक साथ पढ़ी थी—एक पृष्ठ तुम पढ़ते थे, एक मैं ! कहानी पढ़कर हम कितनी देर चुप बैठे रहे थे ! मानो चित्रकार की मौत का सोग्र मना रहे हों।

तुमने जो किताब दी थी न, 'ओल्ड मैन एण्ड दी सी' उसे मैंने दोबारा पढ़ा है। गजब का जीवट वाला मछेरा है इस उपन्यास का पात्र ! अदम्य साहस संकल्प, जीजीविषा !···ताज्जुब होता है ऐसे उपन्यास का रचयिता आत्महत्या कर ले !···और उधर मयाकोवस्की को देखो न !

नोबल पुरस्कार विजेता मयाकोवस्की ! अपने साथ कितनी क्रूरता से पेश आया ? अपने ही हाथ-पैर की नसें काट दीं · कई बार ऐसा महसूस होता है, आदमी मौत से लड़ते-लड़ते अपने साथ लड़ने लगता है। और खुद को किसी महाशून्य में लीन कर देता है।

सीमान्त, मेरी इस बेतरतीब लिखाई की हँसी मत उड़ाना। तुम्हें क्या मालूम कितने दिनों में लिखा है मैंने यह पत्र ! हर रोज दर्द की शिद्दत से कुछ लम्हें उधार लिए हैं, और उन लम्हों में तुम्हें लिखती रही हूँ।···तुम कहते थे न, बहुत सुन्दर लिखाई मेरी—बिल्कुल मेरी तरह। मैंने तुम्हारी बात काटी थी—"सुन्दर इबारत सिर्फ़ सुन्दर लोगों की बपौती नहीं होती।" तुमने झट बात बदलते हुए कहा था—"सुन्दरता का मेरा मतलब मन की सुन्दरता से है···"

नहीं सीमान्त, मैं निराशा नहीं, बिल्कुल भी नहीं। मैं तो लड़ रही हूँ एक ऐसी लड़ाई जिसका अन्त हमेशा पराजय होता है। देखो न, फिर भी मैं लड़ रही हूँ। सीमान्त, क्या यह सच नहीं कि कभी-कभी हमारी लड़ाई कर्ण की तरह होती है—पराजित होने के लिए।

कल डॉक्टर दत्ता मुझे चैक करने के बाद भैया को एक ओर ले गए थे। धीरे-धीरे कुछ कह रहे थे उसे। शायद मेरे शेष दिनों का मीजान लगा रहे थे। मैं मन ही मन मुस्करा रही थी। मन हुआ कह दूँ—"डॉ. दत्ता, मुझे भ्रम में रखने का यह नाटक किसलिए ?···" क्या मैं जानती नहीं ? सब जानती हूँ। तुम सबसे ज्यादा मैं खुद जानती हूँ अपने बारे में।

सीमान्त, इस बार मैंने भैया को खुद मना कर दिया था—नहीं जाना अस्पताल ! नहीं चढ़वाना खून ! इन खून की बोतलों से जिन्दगी की भीख क्यों माँगती रहूँ ? शान से मर क्यों न जाऊँ ? सच सीमान्त मैं तो जिन्दगी के हाथ पर उसकी साँसों के तमाम खिलौने रखकर चल दूँगी और जिन्दगी को चकित कर जाऊँगी···अब बहुत जल्दी चली जाऊँगी सीमान्त रेखा के उस पार—जहाँ सन्नाटे का महोत्सव होता है।

···जिन्दगी की अब कोई कहानी नहीं लिखी जाएगी सीमान्त, अब सारे कथानक मेरे हाथ से छूटते जा रहे हैं।

और सचमुच कोई कथानक नहीं बचा था नंदिनी के पास। जिन्दगी की कहानी अगले ही दिन खत्म हो गई थी।

लेकिन सीमान्त, सीमान्त पत्र को बार-बार पढ़ रहा था और हर बार आँसू एक नई कथावस्तु तैयार कर देते—वेदना की कथावस्तु। अँधेरे के नाखून उसे भीतर से खुरच रहे थे। वह बैठा हुआ था किसी शिलाखंड-सा क़तरा-क़तरा रिसता हुआ। ●

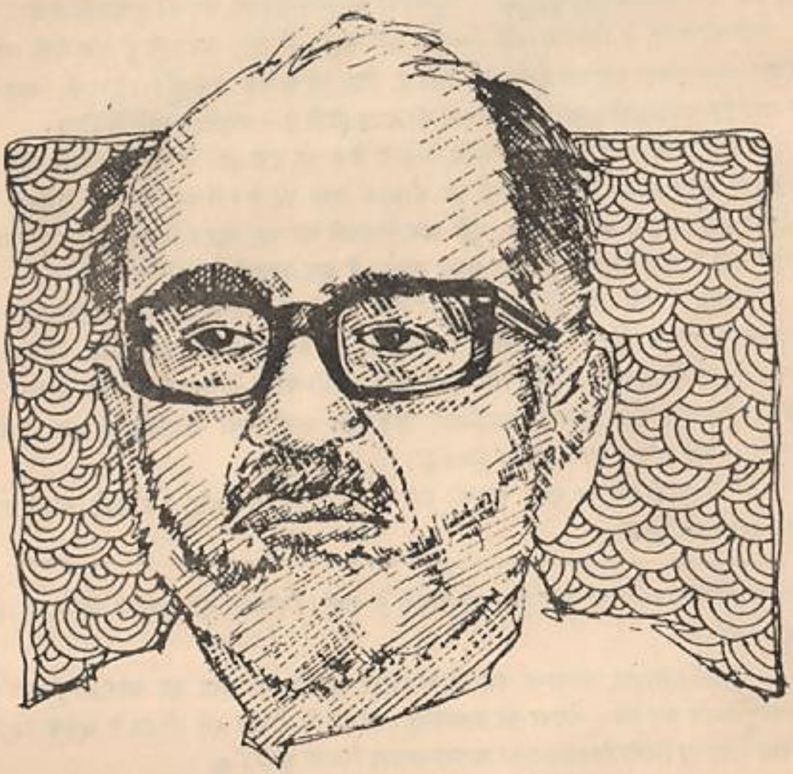

**सच्चिदानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'**
जन्म : ७ मार्च १९११
देहान्त : ४ अप्रैल १९८७

# सच्चिदानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'

□ विजयेन्द्र स्नातक

**अज्ञेय** आधुनिक हिन्दी साहित्य के निर्माताओं में अपनी बहुमुखी प्रतिभा और सर्जना शक्ति के कारण पहली पंक्ति में मूर्धन्य स्थान पर हैं। लगभग चार दर्जन ग्रंथों का प्रणयन कर इन्होंने जो छाप हिन्दी भाषा और साहित्य पर छोड़ी है वह कविवर **प्रसाद** को छोड़कर किसी दूसरे सर्जक साहित्यकार की नहीं है। निस्सन्देह अपने युग के वह साहित्य-शलाका पुरुष थे।

अज्ञेय का जन्म कसिया (कुशीनगर), जिला देवरिया (उत्तर प्रदेश) में ७ मार्च, सन् १९११ को हुआ था। इनके पिता श्री हीरानन्द शास्त्री भारतीय संस्कृति तथा प्राच्य विद्या के मर्मज्ञ विद्वान थे। ब्रिटिश शासनकाल में पुरातत्त्व विभाग में अनुसंधान अधिकारी के पद पर कार्य करते थे। अज्ञेय के जन्म के समय वे कसिया नामक स्थान में खुदाई के काम का निरीक्षण कर रहे थे। पुरातत्त्व विभाग में कार्यरत होने के कारण उनका विभिन्न स्थानों पर स्थानान्तरण होता रहता था। बालक सच्चिदानन्द को अपने शैशव में लखनऊ, श्रीनगर, जम्मू, पटना, नालन्दा, उटकमंड, मद्रास, लाहौर आदि स्थानों पर अपने पिता के साथ रहना पड़ा। उटकमंड में रहते हुए इन्होंने अपने पिता तथा पंडितों से संस्कृत भाषा का ज्ञान प्राप्त किया। इनके पिता का पुस्तकालय बहुत समृद्ध था। अतः शैशव से ही इन्हें पुस्तक पढ़ने का शौक हो गया जो आजीवन बना रहा। पटना-प्रवास के समय इनका परिचय अनेक विद्वानों से हुआ और कविता लिखने में भी इनकी गहरी रुचि हुई। सच्चिदानन्द की शिक्षा किसी एक विद्यालय में नहीं हुई। मद्रास विश्वविद्यालय से बी.एस-सी. की उपाधि लेकर यह अपने पिता के साथ लाहौर चले आये और पंजाब विश्वविद्यालय में एम.एम. अंग्रेजी विषय लेकर अध्ययन प्रारम्भ किया। उसी समय इनका संपर्क उस दल के युवकों से हुआ जो भारत की आजादी की योजना बनाकर ब्रिटिश शासन को समाप्त करने में संलग्न थे। **चन्द्रशेखर आज़ाद, सुखदेव, भगवती चरण वोहरा** आदि इन क्रान्तिकारी युवकों के नेता थे। 'नव जवान भारत सभा' नाम से इन लोगों ने संगठन बनाया हुआ था जिसमें वात्स्यायन भी शामिल हो गये। यह संगठन बम बनाने की योजना भी बना रहा था जिसमें वात्स्यायन ने सलाहकार के रूप में कार्य करना शुरू किया। इस तरह अध्ययन में व्याघात पैदा हुआ और एम.ए. की पढ़ाई बीच में ही छोड़कर मुहम्मद बख्श नाम से क्रान्तिकारी दल में काम करते हुए गिरफ्तार कर लिए गये। सन् १९३० से १९३६ तक इन्हें सरकारी जेल तथा नरजबन्दी का कष्ट झेलना पड़ा।

कारावास में रहते समय इनकी प्रतिभा को सर्जन की प्रेरणा मिली और कविता तथा कहानियाँ लिखकर इन्होंने कारावास के कष्ट को विस्मृत कर दिया। उस समय इन्होंने जो

कविताएँ लिखीं वे **भग्नदूत** में संकलित हैं। **शेखर एक जीवनी** का अधिकांश भी वहीं लिखा गया था। नजरबन्दी के समय इन्होंने एक कहानी लिखी और **जैनेन्द्र** जी के पास प्रकाशनार्थ भेज दी। कहानी लेखक के रूप में वे अपना नाम नहीं दे सकते थे। जैनेन्द्र जी ने **प्रेमचंद** जी के पास 'जागरण' में प्रकाशनार्थ वह कहानी **'अज्ञेय'** नाम से भेज दी और इसी नाम से वह छपी। उसी समय से वात्स्यायन जी का उपनाम अज्ञेय हो गया और अपने प्रथम नाम की अपेक्षा व्यापक-स्तर पर ख्याती पायी। अज्ञेय ने अपने जीवन में साहित्य की अनेक विधाओं में लिखा और सभी क्षेत्रों में अपना उल्लेखनीय स्थान बनाया। कविता के क्षेत्र में **इत्यलम्, हरीघास पर क्षण भर, बावरा अहेरी, इन्द्रधनुष रौंदे हुए थे, अरी ओ करुणा प्रभामय, आँगन के पार द्वार, कितनी नावों में कितनी बार, पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ, सागर मुद्रा** आदि रचनाएँ सुप्रसिद्ध हैं। **आँगन के पार द्वार पर** इन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार तथा **कितनी नावों में कितनी बार** पर ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त हुआ।

उपन्यास की विधा में **शेखर एक जीवनी** इन की पहली रचना है किन्तु इस रचना को जो सम्मान मिला वैसा सम्मान प्रथम कृति के रूप में शायद ही किसी उपन्यास को मिला हो। **नदी के द्वीप** और **अपने अपने अजनबी** शीर्षक दोनों उपन्यास भी अपनी शिल्प विधि तथा वस्तु विन्यास के कारण हिन्दी में अपना स्वतंत्र स्थान रखते हैं।

कहानी, निबंध और आलोचनात्मक लेखों के साथ अज्ञेय ने यात्रावृत्त और संस्मरण लेख भी लिखे। इन पुस्तकों की संख्या डेढ़ दर्जन से ऊपर है। आश्चर्य होता है कि लेखक को विभिन्न विधाओं में लिखते समय शिल्प और प्रविधि परिवर्तन में कभी कोई अड़चन नहीं हुई। एक साथ तीन-चार विधाओं में उनकी कलम पूरी रफ्तार से चलती रही। जैसा परिष्कृत गद्य अज्ञेय ने लिखा वैसा बहुत कम लेखक लिख पाये हैं। कुछ आलोचकों ने मनोमालिन्य के कारण इनके प्रांजल गद्य को विकृति पूर्ण ठहराने की कोशिश की किन्तु उनके पक्षपात की कलई खुल गई। आज अज्ञेय का गद्य हिन्दी साहित्य का गौरव है और हिन्दी जगत् को उस पर गर्व और अभिमान है। साभिप्राय, सार्थक, सटीक और व्यंजक शब्द प्रयोग उनकी भाषा का प्राण हैं। शब्दों की प्रांजलता पर उनकी दृष्टि रही है। वर्तनी और व्याकरण की लेशमात्र की त्रुटि उनके लेखन में नहीं है। भाषा परिष्कार के लिए सतत प्रयत्नशील अज्ञेय को अस्वाभाविक या कृत्रिम भाषा का प्रयोगधर्मी ठहराने वाले आलोचकों को अपने मालिन्यपूर्ण चिन्तन पर पुनर्विचार की आवश्यकता है। अज्ञेय ने रचनात्मक साहित्य के साथ पत्रकारिता के क्षेत्र में भी प्रवाह पूर्ण प्रांजल भाषा-प्रयोग पर ध्यान दिया और अपने सम्पादकीय लेखों में गद्यसौष्ठव का आदर्श प्रस्तुत किया।

कुछ समीक्षकों ने **तारसप्तक** शीर्षक से सम्पादित अज्ञेय के वक्तव्यों के आधार पर इन्हें व्यक्तिवादी अहंवादी, असामाजिक आदि ठहराने का प्रयास भी किया था जो कतिपय पक्ष-पाती विसंवादी स्वरों में ही सिमटकर रह गया। अज्ञेय ने द्वितीय महायुद्ध के समय साम्राज्य-वाद का विरोध किया, तानाशाही का विरोध किया। तदनन्तर साहित्यकार की स्वतंत्रता का पक्ष लिया। वे स्वाभिमानी मनीषी चिन्तक और विचारक थे। उन्होंने मानव गरिमा की प्रतिष्ठा के साथ मूल्य संधान पर अपनी दृष्टि जमायी रखी। हिन्दी को कोई दूसरा आधुनिक युग का साहित्यकार इस ऊँचाई तक पहुँचा कर स्वाभिमान की रक्षा नहीं कर सकता। अज्ञेय ने किसी पद-पदार्थ की आकांक्षा से अपना सिर नीचा नहीं किया वरन् अपनी गरिमा से उनका भाल

सदा ऊँचा बना रहा।

मैं अज्ञेय को इक्कीसवीं शताब्दी के परिवर्तित परिवेश में स्वस्थ परम्परा को आगे बढ़ाते हुए देखना चाहता था। उनके मनीषी व्यक्तित्व को देखते हुए यह आशा करना कुछ असंगत नहीं था कि अज्ञेय का वैचारिक संदेश इक्कीसवी सदी में अवश्य गुँजित होगा और साहित्य सर्जन के क्षेत्र में नूतन मार्ग का उन्मेष करेगा। लेकिन 'मेरे मन कुछ और है विधाता के कुछ और' चार अप्रैल '८७ की प्रातः आठ बजे अज्ञेय चिर मौन के साथ चिर निद्रा में लीन हो गये।

अज्ञेय ने विचार और चिन्तन के क्षेत्र में जितना उन्मुक्त स्वतंत्र और रूढ़ि विच्छिन्न व्यापक सोच का द्वार खोला उतना हिन्दी का कोई दूसरा साहित्यकार नहीं खोल सका। यह निर्विवाद प्रमाण सम्मत तथ्य है कि अज्ञेय ने अपनी रचनात्मकता में कभी शास्त्रानुमोदन नहीं किया किन्तु शास्त्र की अवमानना भी नहीं की। संतों ने आचरित सत्य को प्रमाण माना था। अज्ञेय ने स्वानुभूत सत्य के युग की आग में तपाकर जाँचने-परखने का प्रयास किया। इस जाँच-पड़ताल में जो उनके हाथ लगा उसे कलात्मक शैली में प्रस्तुत कर दिया। कलात्मक शैली के कारण कुछ समीक्षकों ने उन्हें कलावाद का पुरस्कर्ता ठहरा दिया। उनके चिन्तन को एक साथ कई मोर्चों पर चुनौती का सामना करना पड़ा, प्रतिद्वन्द्विता का भाव भी उभरा किन्तु अज्ञेय बिना किसी दुराग्रह के अपनी मान्यता पर चट्टान की तरह अडिग खड़े रहे। इस दृढता में उनका निर्विकल्प चित्त ही उनके साथ रहा। कोई सहयात्री नहीं मिला। इस एकांकी यात्रा को अज्ञेय ने स्वयं चुना था इसलिए अकेलापन उन्हें कष्टप्रद नहीं लगा।

अज्ञेय ने स्वीकार किया वह बचपन से परम्परा के संपर्क में रहे हैं। उनकी दृष्टि में रूढ़ि और परम्परा दो अलग-अलग चीज़ें हैं। रूढ़ि भंजन में उनका विश्वास है और यथासमय रूढ़ियों को वे तोड़ते रहे हैं। लेकिन परम्परा तोड़ी नहीं जाती, बदली जाती है या फिर आगे बढ़ाई जाती है। परम्परा को बदलने और आगे बढ़ाने में वह सदा प्रयत्नशील रहे। उन्होंने स्वयं कहा कि इस अर्थ में 'मैं मर्यादावान विद्रोही हूँ।' ऐसे ही मर्यादावान विद्रोही की इक्कीसवीं शताब्दी में भारत को अपेक्षा थी। अज्ञेय भारतीय चिन्तन परम्परा को विश्व चिन्तन से संयोजन की क्षमता लेकर आये थे। वे उसे साकार करने में संलग्न थे। इक्कीसवीं सदी में यह संयोजन ही सबसे बड़ी उपलब्धि होगी। बीसवीं शताब्दी में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ के बाद अज्ञेय दूसरे व्यक्ति थे जिन्होंने भारतीय मनीषा और साहित्य चिन्ता को पूरी जातीय अस्मिता के साथ विश्व के लिए बोधगम्य बनाया।

अज्ञेय के भविष्य के विषय में एक ज्योतिषी ने बताया था कि "यह बालक या तो फकीर होगा या राजा। यह असल में तबीयत का बादशाह होगा।" इसमें कोई सन्देह नहीं कि तबीयत के सिवा अज्ञेय को कोई बादशाहत नहीं मिली। तबीयत की बादशाहत भी क्या कोई छोटी चीज है। यदि बीसवीं सदी के शष चौदह वर्ष उन्हें मिलते तो जिस विराट परिवर्तन की बात आज सारे विश्व में हो रही है उस विराट में अज्ञेय का बड़ा प्रदेय होता। इसी आकांक्षा से अज्ञेय को मैं इक्कीसवी सदी में देखना चाहता था।

अज्ञेय उन व्यक्तियों में हैं जो आधुनिकता को नयी चेतना और नयी संवेदना की परिधि में

ग्रहण करते हैं। उनके अनुसार "आधुनिकता और भारतीयता में कोई बुनियादी विरोध नहीं है, आधुनिक होने का अर्थ यह नहीं है कि हम भारतीय बिल्कुल न रहें और पश्चिम की नकल करें तो हम विश्व और भारत में बदली हुई परिस्थिति को पहचानें, तटस्थ होकर सही स्थिति की छाप ग्रहण करें, मिटें नहीं, नये संस्कारी हों। अगर यह नहीं होता तो हम आधुनिक नहीं हैं।" इस सोच को दृष्टि में रखते हुए हमें अज्ञेय की इक्कीसवीं सदी में जरूरत है जो दुर्भाग्य से अब हमें सुलभ नहीं है।

अज्ञेय ने अपने को भारतीय और अपनी भाषा हिन्दी मानने में सदैव गौरव का अनुभव किया। भारतीयता की पहचान के लिए अपनी जातीय अस्मिता की मजबूत पकड़ उनके पास सदैव बनी रही। "मैं अनुभव करता हूँ कि हिन्दी के प्रति मेरी आस्था अनेक प्रतिष्ठित हिन्दी वालों से अधिक है और साथ ही यह भी कि मैं बड़ी गहराई में और बड़ी निष्ठा के साथ भारतीय हूँ। अज्ञेय अपने को हिन्दी का मानकर चलते हैं जबकि आर्थोडॉक्स हिन्दी वाला हिन्दी को अपनी मानता ही नहीं वैसा दावा भी करता है। अज्ञेय अपने को भारत का मानता है जबकि आर्थो-डॉक्स भारतीय देश को अपना मानता है। अज्ञेय ने लिखा है कि "मैं दस-बारह वर्षों से बराबर बाहर रहा हूँ लेकिन हर बार इसलिए लौट आया हूँ कि अन्ततोगत्वा मैं भारतीय हूँ, भारत का हूँ और भारत में ही रहूँगा।" मैं ऐसे सच्चे भारतीय की इक्कीसवीं सदी में ज्यादा आवश्यकता अनु-भव करता हूँ। आज की युवा पीढ़ी में न तो भारत से प्रेम है और न भारतीय भाषाओं के प्रति उनकी गहरी आस्था। इसमें युवा पीढ़ी का दोष नहीं, दोष परिवेश और परिस्थिति का है जिसका असली दायित्व उन लोगों पर है जो राजनेता हैं, देश के वर्तमान के विधाता हैं। व्यस्क और प्रोढ़ पीढ़ी के लोग भारतीयता को यदि सही रूप में ग्रहण नहीं करेंगे तो देश का भविष्य क्या होगा, यह एक चिन्ता का विषय है। अज्ञेय ने अपनी दूरदर्शिता से भारत का भविष्य देख लिया था और भारतवासियों को भारत के प्रति सजग किया था।

अज्ञेय की साहित्य-चिन्ता में मूल्य चिन्ता ही प्रमुख थी। उनके साहित्य सृजन में मूल्य शब्द केन्द्र में रहा। उन्होंने स्वीकार किया कि साहित्य सृजन में इधर-उधर विवादों में न उलझकर साहित्यकार को मूल चिन्ता में अपना ध्यान लगाना चाहिए। जीवन मूल्य शब्द को उन्होंने स्वीकृत या प्रचलित अर्थ में ग्रहण नहीं किया। उनकी मान्यता है कि जीवन से बड़ा मूल्य होता है मानव और मानव ही उसे गढ़ता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि मानवता के प्रति लेखक की आस्था ही मूल्य हो सकता है। "अगर मैं अपने से बड़े किसी विचार, आदर्श, आइडिया के लिए जीता हूँ तो स्पष्ट है कि मेरा जीवन एक यज्ञ है। उस विचार या आदर्श के लिए अर्पित आहुति मैं हूँ। ●

**महादेवी वर्मा**
जन्म : १९०७
देहान्त : ११ सितम्बर १९८७

# महादेवी नमोस्तुते

☐ **गोपाल प्रसाद व्यास**

उन्होंने मेरे किसी पत्र का उत्तर नहीं दिया। आग्रह और अनुनय करने पर भी कभी अपनी कविता नहीं सुनाई। कभी राखी भी नहीं बाँधी। इस पर भी वह बहन थीं—बड़ी बहन। शायद ऐसा दावा देश के सैंकड़ों अन्य हिन्दी सेवी भी कर सकते होंगे। क्योंकि वह जब जिससे मिलती थीं—बड़े अपनेपन से। यों उनका अपना कहने को कोई परिवार नहीं था, जो हुआ करते हैं—न पति, न पुत्र, न पुत्री। शायद किसी को उन्होंने विधिवत् गोद भी नहीं लिया था। देश के साहित्यसेवी ही उनके आत्मीय थे। परिवारी थे। सुहृद थे। मित्र थे। केवल हिन्दी के ही क्यों, किसी भी भाषा का कोई भी रचनाधर्मी कभी उनसे मिलता तो वह उनका अपना ही भाई होकर लौटता था। पर मेरी बात कुछ और थी।

## निराला परिवार

अपनी बात कहने से पहले देवी जी के अनोखे परिवार की बात आपको बताऊँ। अँधेरी रात ठंड में सड़क पर कुकियाते हुए पिल्ले, टूटे घोंसलों की बयाओं के जोड़े और उनके बच्चे, चोट खाया मृत्योन्मुख गिलहरी का बच्चा गिल्लू, घर की घोड़ी, पाले हुए हिरन, मोर और तोते जैसे पशु-पक्षी ही नहीं, 'नील गगन का विस्तृत कोना', 'नीर भरी दुख की बदली', इधर से उधर दौड़ते हुए बादल, चारों ओर गहन अँधेरा, इसके बीच में जलते हुए मधुर-मधुर दीपक की मंदी-मंदी लौ और उस पर दौड़-दौड़कर उत्सर्ग होने वाले शलभ तक उनके व्यापक परिवार के अभिन्न अंग थे। विधिवत् भाई भी बनाया तो उन्होंने औघड़ कवि निराला को। जो उस अर्द्धनग्न फकीर कवि को कभी रजाई सिलवाकर देती, कभी कपड़े बनवाती—बड़े मन से। लेकिन भाई था कि उन्हें सड़क चलते जरूरतमंद लोगों को पहना देता, उढ़ा देता और फिर मटमैले अधोवस्त्र और जीर्णशीर्ण उत्तरीय में महादेवीजी के सुसज्जित कक्ष के सोफे पर आ बैठता और कहता कि ये लो तीन हजार पुरस्कार में मिले हैं। महादेवी उनके कपड़े-लत्ते और खाने-पीने का बजट बनाती, परन्तु वह कहता—नहीं, ये रुपये तो अमुक साहित्यकार की विधवा के लिए पहले से ही संकलित हैं। उसे भेजती रहिए। मेरे पास छोड़े तो ये घर जाते-जाते भी नहीं बचेंगे। निराला जी के खाने-पीने और रहने का समुचित प्रबंध हो जाए इसलिए देवीजी ने उन्हें साहित्यकार संसद के गंगातट पर बने भव्य भवन में बिठा दिया। एक सप्ताह बाद महादेवी जी वहाँ गईं तो देखती क्या हैं कि फर्श की दरी गायब है। उस पर बिछी चादर का भी पता नहीं। चादर गई तो ग़लीचा कैसे बचता? तकिये कैसे बचते? सोफा भी सफा, कीमती कलाकृतियाँ भी तिरोहित।

महादेवी जी ने जरा बनावटी क्रोध के साथ निराला जी से पूछा—'कहाँ गया ये सब सामान ?' निराला जी का छह शब्दों का उत्तर था—'जिसको ज्यादा जरूरत थी उसके पास।' महादेवी जी कुछ बोली नहीं। मुंह फेरकर चुपचाप लौट गईं। निराला जी ने उनके बनवाये कपड़े वहीं छोड़ दिए। पहना अपना पुराना तहमत, डाली कंधे पर फटी-पुरानी चादर और चल दिये—धर लो अपनी धर्मशाला। दिनों बीत गए। महीनों गुजर गए। निराला महादेवी जी के यहाँ नहीं गए। आया रक्षाबंधन वाला दिन। दिन भर दहलीज़ पर कान लगाए डबडबाती आँखों से वह भाई की प्रतीक्षा करती रहीं। थककर देर रात गए उन्होंने फाटक बन्द करा दिया। सुबह जब फाटक खोला तो देखती क्या हैं उनका औघड़ भाई फाटक से पीठ टिकाए बैठा हुआ है। आप उन क्षणों की कल्पना कर सकते हैं कि उस पुनर्मिलन पर दोनों की मनोदशा क्या रही होगी? और कैसे रक्षा के सूत्र इन हाथों से उन हाथों की कलाई को बाँध रहे होंगे। एक बार महादेवी जी ने राखी वाले दिन निराला से पूछा था—'आपकी कलाई सूनी क्यों है?' तो उन्होंने उत्तर दिया था—'मुझ जैसे भुक्खड़ को कौन अपना भाई बनाएगी?' बहिन तो महादेवी जी निराला जी की थी और भाई तो निराला था महादेवी जी का। फिर मैं क्या और मेरे जैसे अन्य बीसियों लोग क्या? फिर भी।

## मुझको लेकर

न दें मेरे पत्र का उत्तर स्वयं लिखकर, परंतु जब कोई आगरा या दिल्ली से प्रयाग जाता तो वह उससे मेरे हालचाल अवश्य पूछा करती थीं। जब कोई प्रयाग से आने वाला मेरा निकटवर्ती उनसे मिलकर लौटता तो उन्हें जो कुछ कहना होता अवश्य कहलवा दिया करती थीं। और कभी-कभी तो इलाहाबाद के दुर्लभ लाल अमरूद भी भेजना नहीं भूला करती थीं। जब ग्लूकोमा पीड़ित मेरी आँखों के ऑपरेशन हुए तो बार-बार उनकी आकुलता मुझे छू जाती थी। शायद यह महादेवी जी का ही वरदान रहा है कि सन् '५६ से खराब पड़ी आँखों के बावजूद मैं सन् '८६ यानी आज तक पहले बीस साल स्वयं लिखता रहा और अब दस साल से लिखवाता रहा हूँ। जब 'साहित्य संदेश', 'दैनिक हिन्दुस्तान' और आगरा के 'विकासशील भारत' से मैं अलग हुआ तो उन्होंने कहलवाया—'अब क्या करोगे? प्रयाग आ जाओ। साहित्यकार संसद संभालो। हमारी पत्रिका का संपादन करो।' यह करो, वह करो आदि-आदि। जब बदायूँ के कवि-सम्मेलन में मंचस्थ कवियों की धुनाई हुई तो अखबार में खबर पढ़ते ही उन्होंने एक प्रयागी भाई को दिल्ली भेजा कि वह देखकर बताए कि मैं सकुशल तो हूँ? प्यार मन की वस्तु है। अगर वह आंतरिक से आंतरिक हो तो ढाई आखर भी नहीं लिखे जा सकते।

औरों की और जानें। मेरे लिए महादेवी जी विशेष थीं और कदाचित मैं भी उनके लिए साधारण नहीं था। अनेक प्रसंग हैं। केवल अंतिम प्रसंग का उल्लेख करूँगा। अभी दो-ढाई वर्ष पूर्व अपने सुहृद **श्री रामनिवास जाजू** के यहाँ वह एक शादी में दो-तीन दिन के लिए आई थीं। मैं जरा देर से पहुँचा। उन्होंने मेजवान से पूछा—'क्या व्यास जी को निमंत्रण भिजवाया गया है?' यह जानकर कि मैं अवश्य पहुँचूँगा, रुग्ण होते हुए भी वह देर रात तक रुकी रहीं। जब मैं मिला तो मेरे दोनों जुड़े हुए हाथ उन्होंने पकड़ लिए। अपने हाथों में लेकर झुलाने लगीं और ऐसे गले से लगा लिया जैसे ग्रामवासिनी बहनें लंबे विछोह के बाद अपने बीरन को कलेजे से लगा लेती हैं। न जाने क्यों उनकी सहज हँसी उस रात, या कहूँ उस क्षण कहाँ तिरोहित हो

गई थी। उनकी आँखों को तो मैं देख नहीं पाया, पर मेरी अँखियाँ अवश्य डबडबा आईं। गुदगुदी हथेलियों से आज माँस गायब था। हड्डियाँ उभर आई थीं। सदा गर्म रहने वाले हाथ आज ठंडे पड़े हुए थे। पहली बार मैंने अनुभव किया—'सोच-समझ अज्ञानी, काया भई पुरानी।' दूसरे दिन चुने हुए साहित्यकारों की एक अंतरंग गोष्ठी विधिवेत्ता **श्री लक्ष्मीमल्ल सिंघवी** के यहाँ हुई। **अमृता प्रीतम** और **भवानी भाई** ने कविताएँ सुनाईं। मुझसे भी कुछ कहने को कहा गया। वह पहला और अंतिम दिन था जब महादेवी जी ने मेरे संबंध में बहुत कुछ ऐसे प्रशंसा भरे शब्द कह डाले जिनकी मुझे स्वप्न में भी आशा नहीं थी। मुझे उन्होंने लेखक होने का प्रमाण-पत्र दिया था उस दिन। इस दुलार को पाकर मैं एक बार फिर उनसे कविता सुनाने का आग्रह कर बैठा तो बड़ी स्नेहिल दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए बोलीं—'भैया क़सम क्यों तुड़वाते हो ?' शायद बहुत लोग यह नहीं जानते होंगे कि गाँधी जी ने उन्हें कविता लिखने के लिए तो आशीर्वाद दिया था, पर उन्हें सुनाने की मनाही कर दी थी। महादेवी जी ने तभी से कविता न सुनाने की क़सम खा ली थी। नहीं तो एक समय ऐसा भी था जब गोष्ठियों में ही नहीं, यदाकदा कवि-सम्मेलनों में भी वह कविता पाठ किया करती थीं। उन्होंने **हरिऔध जी** के साथ कविता पढ़ी और **श्रीधर पाठक** के साथ भी। **श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान** तो उन्हें एक प्रकार से ब्रजभाषा से निकालकर खड़ीबोली में लाई थीं। उनके साथ वह अक्सर कवि-सम्मेलनों में जाया करती थीं। एक बार फर्रुखाबाद (उनके जन्मस्थान) में ऐसा कुछ हुआ कि वह आवेश में आ गईं और बोलीं—'अब इस नगर में कभी नहीं आऊँगी।' वह अशिष्टता और अशालीन आचरण कभी बर्दाश्त ही नहीं कर सकती थीं।

## पहले पग ब्रजभाषा की डगर में

ब्रजभाषा की बात निकली तो आप जानें कि इनके पितामह उर्दू-फारसी के विद्वान थे और **गालिब** और **मीर** की पूरी शेरो शायरी उनकी जुबान पर थी। पिताश्री ने इलाहाबाद से अंग्रेजी में प्रथम श्रेणी में प्रथम आकर एम. ए. किया था। परन्तु महादेवी में अपनी सनातन धर्मी माँ की रामभक्ति और सेवा-पूजा से तथा उनके सुमधुर पद गायन से बचपन से कविता फुरने लगी। माँ का स्वर बड़ा मीठा और सधा हुआ था। वह सवेरे-सवेरे अपने ठाकुरजी को गाकर जगाती थीं—'जागिए कृपानिधान, पंछी बन बोले।' और रात को शयन के पद गाते हुए कहती थीं—'शयन कीजिए कृपाल भीग रही रैन।' वह सवेरे ठाकुरजी को ठंडे पानी से नहलातीं तो महादेवी को लगता—हाय-हाय, क्या ठाकुरजी को ठंड नहीं लग रही होगी ? और उन्होंने तुकें जोड़ीं—

**माँ के ठाकुरजी भोले हैं**
**ठंडे पानी से नहलातीं**
**ठंडा चंदन इन्हें लगातीं**
**इनका भोग हमें दे जातीं**
**फिर भी कभी नहीं बोले हैं।**
**माँ के ठाकुरजी भोले हैं।**

ऐसी अनेक छोटी-छोटी कविताएँ उन्होंने बचपन में ही लिख डाली थीं। उनकी इस प्रवृत्ति को देखकर पितामह ने विधिवत् काव्य की शिक्षा देने के लिए एक पंडितजी का प्रबंध किया। यह

पंडितजी थे उस काल के प्रसिद्ध कवि **श्री रामचरित्र उपाध्याय**। पंडितजी ने महादेवी जी को छन्द ज्ञान कराया। पिंगल के साधारण नियम बताए। समस्याएँ दे-देकर इनकी पूर्ति करने को कहा। उनकी एक सर्वोत्तम मानी गई समस्या 'नाँऍं देत' की पूर्ति देखिए—

**रजनी अब जात देखि प्राची मुस्कात**
**प्रात अंबर सुनील को अबीर रंग छाये लेत।**
**लहरें नव बोलि करें कुंजन में केलि**
**भौंर गुंजन में गाइ रहे स्वागत के हेत।**
**मधुकन को अर्ध्य नए ठाड़े है सुमन**
**ओस मोतिन की माल झूमि पल्लव लुटाये देत**
**पंकज के पोंछि नैन आयो सुख देन ऐन**
**अंजन पराग को समीर सीत नाँऍं देत।**

ऐसी अनेक ब्रज कविताएँ उन्होंने अपने प्रारंभिक काल में लिखीं। माँ की भावनाभरित स्वरलहरी और ब्रजभाषा के सहज माधुर्य ने आगे चलकर उनकी कविता में चार चाँद लगाए। आधुनिक हिन्दी साहित्य के सभी युगाधार कवि पहले ब्रजभाषा में ही लिखा करते थे। महादेवी जी इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। खड़ी बोली में भी वह एक समस्या पूर्ति के द्वारा ही प्रतिष्ठित हुई थीं। उनकी 'ज्वाला के' नामक समस्यापूर्ति को पढ़ें—

**बिखरेंगी न पंखुड़ियाँ म्लान भी न होंगे कभी,**
**मेरे ये सपने नहीं हैं फूल, माला के।**
**चुनेगा न शूल, नहीं ओस बूंद फूटेगा,**
**इनके दलों पर समान किसी छाला के।**
**देवता का मस्तक संभाल नहीं पायेगा,**
**गुँथेंगे न कुंतल में किसी निशा बाला के।**
**आँसू खिची हैं सपनों की रेखाएँ,**
**मैंने फिर रंग भरे प्राणों की ज्वाला के॥**

उनकी एक समस्यापूर्ति तो गाँधीजी ने नहीं सुनी लेकिन पुरस्कार में प्राप्त नक्काशीदार चाँदी का कटोरा उन तक अवश्य पहुँच गया और उसे नीलामी पर चढ़ाकर स्वराज फंड के लिए पैसे वसूल कर लिए गये। सुनना चाहेंगे आप उक्त पूर्ति को—

**धरती ने पुत्र निज बनाया है कण-कण से**
**माटी को गूँथ-गूँथ ममता के पानी में,**
**करुणा दी सागर की, नभ का आलोक दिया**
**अंग-अंग में अशेष दिप्ति दी निशानी में,**
**अपनी ही रचना में अपने को देखती है**
**अपने ही दोनों में अपने बरदानी को**
**आँखों में गंगा और यमुना लहराती है**
**बोलता हिमालय भी आज इसी वाणी में।**

काफी पुराना संबंध था मेरा उनसे सन् '३६-'३७ से। जब से खड़ी बोली अस्तित्व में आई तभी से प्रयाग हिन्दी का भी साहित्यिक तीर्थराज रहा है। भक्तजन संगम में ही डुबकियाँ लगाने

नहीं जाते थे, उनका एक अन्य प्रमुख आकर्षण साहित्य-देवताओं के दर्शन करना भी हुआ करता था। **पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी, बालकृष्ण भट्ट, श्रीधर पाठक, महादेवी जी, पंतजी, निराला जी, भगवती बाबू इलाचंद्र जोशी, नंद दुलारे बाजपेयी, धीरेन्द्र वर्मा, रसालजी, भगवती प्रसाद बाजपेयी, बाचस्पति पाठक** आदि अनेक ऐसे दिव्य विग्रह थे जो मंदिरों के देवताओं की अपेक्षा ये बोलते भी थे और सुनते भी थे। इनसे रस भी मिलता था और ढाढ़स भी, अवदान भी प्राप्त होता था और वरदान भी। एक-एक करके अब ये सब मूर्तियाँ संगम में सरस्वती की लुप्त धारा की तरह ही विलुप्त हो गई। तब आई दूसरी पंक्ति—**सर्वश्री बच्चन, धर्मवीर भारती, सी. वी. राव, नरेश मेहता, कार्टूनिस्ट शिक्षार्थी, कवि अंचल, केशवचंद्र वर्मा, गिरिधर गोपाल, शैलेश मटियानी, उपेन्द्रनाथ 'अश्क'** आदि दर्जनों नई पीढ़ी के साहित्यकार और बना हिंदी साहित्य सम्मेलन, खड़ी हुई हिंदुस्तानी अकादमी और परिमल जैसी उल्लेखनीय संस्थाएँ, जिन्होंने प्रयाग की साहित्यिक गरिमा को यथा संभव बनाए रखा। अब तो नाम शेष रह गये हैं, लेकिन एक समय था जब इनसे मिलने, इनके दर्शन करने और विचार सुनने के लिए लोग दूर-दूर से बारह महीने प्रतिदिन आते ही रहते थे।

## फिर बापू को तीन वचन

ऐसे ही आयीं हिन्दी की प्रख्यात कवयित्री **श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान**—पढ़ने प्रयाग में। महादेवी और सुभद्राजी दोनों कॉलिज के एक ही होस्टल में दिनों तक साथ रहीं। सुभद्राजी स्वभाव से ही भावुक और **श्री माखनलाल चतुर्वेदी** के संपर्क और प्रेरणा से शुरू से ही राष्ट्रवादी कवयित्री रहीं। अच्छा लिखती थीं और अच्छी दिखती थी। गोष्ठियों और मंचों पर जम-कर कविता-पाठ भी करती थीं। सुभद्राजी और महादेवीजी की मित्रता हो गई। सुभद्राजी का राष्ट्ररंग महादेवी पर भी चढ़ने लगा। संस्कार तो पहले से ही थे। पिता अँग्रेजों से हथियार लेकर लड़े थे, बाद में गाँधीजी साथ आये तो हथियार भी छोड़ दिये। गाँधीजी के साथ परिवार में खादी आई। पिता ही नहीं, महादेवीजी भी गाँधीजी के संपर्क में आईं। देवी को महात्मा ने आदेश दिया—'कविता लिखना चाहती हो तो लिखो, पर गा-गाकर उसे सुनाना बंद करो।' महादेवी ने पूछा—'तो फिर मैं क्या करूँ।' बोले बापू—'हिन्दी का प्रचार करो। नारी जागरण का काम तुमको सौंपता हूँ।' महादेवी जी ने जीवन के अंतिम दिनों तक बापू के इन त्रिवाचा का पालन किया। कविता सुनानी बंद कर दी। हिन्दी प्रचार के लिए वह अहिन्दी क्षेत्रों के सुदूर तमिलनाडु तक नगर-नगर पहुँचीं और डगर-डगर दौड़ीं। विरोधी वातावरण के दिनों में भी हर जगह हिन्दी में बोली, सुनी गई और सराही गई, न कभी किसी ने काले झंडे दिखाए और न ही पत्थर फेंके। उत्तर से कुछ अधिक ही सम्मान दिया दक्षिण ने।

## छायावाद से पहले राष्ट्रवाद

मुझे वे दिन याद हैं जब महादेवी की कविताएँ स्वतंत्रता के सेनानी प्रभात फेरियों में गाया करते थे। जैसे—

**वंदिनी जननी तुझे हम मुक्त कर लेंगे**

× × ×

**अनुरागमयी, शृंगारमयी भारत जननी भारतमाता**

× × ×

**तेरी उतारूँ आरती माँ भारती**

× × ×

**यह अमर बलिदान बेला है**

**मरना इसको कहो मत**

× × ×

**मस्तक देकर आज खरीदी है यह ज्वाला ।**

ये गीत चलते-चलते ही नहीं, कांग्रेस की सभाओं में भी महिलाओं द्वारा मंचों पर सस्वर गाए जाते थे । अपने ऐसे हो गीतों के कारण वह **राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त** के साथ पहले-पहल जुड़ी थीं । **नवीनजी** की आदरणीया हुई थीं और **माखनलाल जी सुभद्राजी** से अनेक ऐसे गीतों को प्रायः सुना करते थे । मैं भी एक ऐसे ही गीत को सुनकर चौंका था । यह कैसी कवयित्री है जो 'नारों' के सितारों में भी साहित्य जड़ दिया करती हैं ?

## जन्मजात विद्रोहिणी

वास्तव में क्या जीवन, क्या साहित्य, क्या समाज, क्या राष्ट्र—सभी में उनका विद्रोही स्वर मुखरित था । वह जन्मजात क्रांतिकारिणी थीं । अज्ञात पति के साथ पति के घर जाने से मना करके उन्होंने बाल-विवाह को कसकर ठोकर मार दी थी, जब माँ-बाप लड़कियों को चिट्ठी-पत्री पढ़ने के अलावा अधिक पढ़ाना-लिखाना उचित नहीं समझते थे और स्त्री और शूद्रों को पुरानी पीढ़ी के पंडित संस्कृत और वेदों की शिक्षा देना अधर्म मानते थे तब महादेवी जी ने हठ करके पढ़ाई-लिखाई जारी ही नहीं रखी, संस्कृत में एम. ए. किया और वह भी प्रथम श्रेणी में । नारी-शिक्षा और जागरण के लिए उन्होंने प्रयाग महिला विद्यापीठ की स्थापना की और अंत तक उससे जुड़ी ही नहीं रहीं विद्यापीठ को विश्वविद्यालयी स्तर भी प्रदान करके दिखा दिया । इस तरह हजारों-हजारों बालिकाओं को उन्होंने राष्ट्रभक्ति, साहित्यानुराग और भारतीय संस्कृति के रंग में रंग दिया जो अपने बच्चों और फिर बच्चों के बच्चों में उदात्त संस्कार आज भी डाल रही हैं ।

जब उन्होंने अपने आसपास और जगत में अनंत दुःख का पारावार लहराता हुआ देखा तो विह्वल हो उठीं कि इस दुःख को दूर करने के लिए क्या करूँ ? कैसे करूँ ? किससे पूछूँ ? किसके पास जाऊँ ? तभी उभरी उनके मानस पटल पर कितेश्वर भगवान बुद्ध की कारुण्य मूर्ति । जगत को दुःखों के अभिशाप से मुक्त कराने के लिए उन्हें भगवान का शुद्ध मार्ग सही प्रतीत हुआ । उन्होंने बौद्ध भिक्षुणी बनने की ठान ली । पहुँची नैनीताल के एक बौद्ध मठ में एक महास्थविर के पास, लेकिन जब महास्थविर ने महादेवी से बात करने से पहले बीच में काठ की पट्टी रख ली तो वह नारी जाति के इस अपमान को नहीं सह सकीं और वापस बिना दीक्षा लिए मुड़ आईं । जो व्यक्ति नारी से सीधे मुँह बात नहीं कर सकता वह उसे राह क्या दिखायेगा ?

## मुक्तिपथ की महारथी

उनका मन छटपटाता ही रहा । दुःख-दग्ध उनकी लेखनी कभी आकाश की ओर देखकर, कभी धरती के जनजीवन की ओर देखकर, कभी प्रकृति के सुख-दुःखों से विगलित होकर

आँसुओं से अपने गीत लिखती रहीं, पर यह आँसू निराशा के नहीं थे, ज्वाला के कण थे। उन्हें छायावाद और रहस्यवाद के साथ जोड़ा जाता है। मेरे पूछने पर एक बार उन्होंने बताया— "वाद-विवाद तो राजनीति की वस्तु है और छाया ? उसे कोई पकड़ सका है ? न जाने किसने क्या समझकर रख दिया है यह नाम ?" और रहस्य ? उसे तो वह तोड़ ही देना चाहती थीं— "तोड़ दो यह क्षितिज, मैं भी देख लूं उस ओर क्या है ?" महादेवी ने कविताएँ लिखी हैं, कोई नया वाद खड़ा नहीं किया। उनका कविताओं की तरह ही मूल्यांकन होना चाहिए। उनकी प्रासंगिकता पर व्यर्थ का विवाद खड़ा न करके हमें उनकी उस साहित्यिक क्रांति को देखना चाहिए जो उन्होंने भावनामयी भाषा, गीतात्मक और प्रतीकात्मक नवसर्जना एवं व्यष्टि से समष्टि की ओर उनके काव्यात्मक अभियान को प्रतिबिंबित करती हैं। उनका अज्ञात प्रथम काव्य-संग्रह करुणा के सौ छन्दों से लेकर **नीहार, रश्मि, नीरजा, सांध्यगीत, यामा** और **दीपशिखा**, तक सबमें एक ही स्वर, एक ही ध्वनि और एक ही भावधारा प्रवाहित है। उसे करुणा कहिए या वेदना अधिकतर लोग कहते भी हैं। परन्तु, मेरा कहना है कि उनकी कविता का मूल स्वर मुक्ति की कामना है—जन की मुक्ति, मन की मुक्ति, मानवता पर छाये अवसादों से मुक्ति, साहित्य पर आई जड़ता से मुक्ति, यामिनी यानी अंधकार से मुक्ति— भोर की किरण के लिए, पंछियों की चहचहाहट के लिए, मानव के कर्मरत होने के लिए। कर्म एक ही था उनके लिए—सभी प्रकार के, सभी स्थानों के बहुविध बंधनों से मुक्ति। कहना चाहिए कि वह हमारे साहित्य में अकेली ही मुक्तिपथ महारथी थीं। इसके लिए उन्होंने भाषा के बंधन तोड़े, छंदों के छल-छंद छोड़े, वादों के प्रमादों को झटककर दूर किया। कर्म क्षेत्र में ही नहीं, साहित्य क्षेत्र में भी वह क्रांतिधर्मा बनी रहीं। हताशा में वह अंतरिक्षवासी किसी देवता के सम्मुख अंजलिबद्ध मुद्रा में खड़ी नहीं होती थीं। वह तो आज के आदमी को ललकारती थीं।

**धूल पोंछ, कांटे मत गिन, छाले मत सहला,**
**मत ठंडे संकल्प आँसुओं से तू नहला**
**तुझसे हो अग्निस्नात यह प्रलय महोत्सव,**
**तभी मरण का स्वस्ति गान जीवन गाएगा।**

मरण का स्वस्तिगान गाने वाली कवयित्री की शिराओं में सदैव क्रांति का लावा धधकता था।

## पद्य रात में गद्य दिन में

उनकी अनेक उत्कृष्ट कवितायें अंधेरी रातों के एकांत में एक छोटे से दीपक के प्रकाश में लिखी गई। वही दीपक जो 'मधुर-मधुर जलता' था। बाद में मुझे मालूम हुआ कि पद्य वह रात में लिखती हैं और गद्य दिन में। दिन और रात में जो भेद है वही उनके गद्य और पद्य में है। पद्य उनके सूनेपन का एकान्त साथी है, जबकि उनका ललित गद्य भोर की किरण की तरह शीतल, सुखद, बालारूण की तरह अर्घ्य पाने योग्य वंदनीय और मध्याह्न के सूर्य की तरह तपे हुए कंचन के समान है—"गद्यं कविनाम् निकषं वदंति।" तुलना का प्रश्न नहीं, मैं उनके गद्य से अधिक प्रभावित हूँ। जिन लोगों ने महादेवी को बोलते हुए सुना है, उनमें से कुछ ऐसे भी निकल आयेंगे जो उनकी कविता और ललित निबंधों की अपेक्षा उनके प्रवचनों के प्रति अधिक आकृष्ट यानी नतमस्तक हैं। महादेवी जी लिखें या बोलें, उठें या बैठें, हँसें, मुस्कुरायें या मौन रहें, हर मुद्रा में वह महीयसी मालूम पड़ती थी। वास्तव में वाग्देवी ही थीं हिन्दी की यह चूड़ामणि

कवियित्री। उनके रोम-रोम से, शब्द-शब्द से दृष्टि निक्षेप या वचन-माधुरी से सदैव कविता, कला और संस्कृति निःसृत हुआ करती थी।

## सद्य : स्नाता, शुभ्रवसना साक्षात सरस्वती

मैंने यों देशभर के अनेक स्थानों का भ्रमण किया है। परन्तु, प्रयाग की यात्राएं उनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय रही हैं। जब-जब प्रयाग जाता तब-तब भाई **वाचस्पति पाठक** के साथ दिनभर खाता-पीता, पान चबाता, बातें होती और संध्या व्यतीत होने के बाद लगभग प्रति धुंधलके में महादेवी जी की दिव्य आभा के दर्शन करने जाया करता था। उनके घर के छोटे से बगीचे में साहित्यिक वृक्ष लगे थे। उन पर सुरभित प्रसून खिले रहते थे। घर के अंदर जाते ही मालूम पड़ता था कि घर नहीं यह कला-निकेतन है। महादेवी जी कवयित्री ही नहीं, चित्रकार भी थीं। बंगाल के अकाल पर बनाए गए चित्र तो आज इतिहास में प्रतिष्ठित हो गए हैं। उन्होंने अपनी कविताओं पर स्वयं कई चित्र बनाए हैं जो उनकी पुस्तकों में छपे हैं। वहाँ अल्पनाएं और रेखाचित्र भी देखने को मिलतीं। स्वयं उनकी और अन्य कलाकारों की कृतियाँ भी सुसज्जित दिखाई पड़ जाती थीं। उनका कक्ष हमेशा अगर, चंदन या अन्य किसी सुगंधित पदार्थ से सुवासित रहता था। एक दीवट पर दीपक भी जलता होता था। इस वातावरण के सद्यः स्नाता, शुभ्रवसना, सुस्मितवदना महादेवीजी अपने आसन पर बैठीं ऐसी लगती थीं जैसे, कमलासन पर साक्षात वाग्देवी विराजमान हों। आपको बता दूं कि महादेवी जी दिन में कम-से-कम चार-पाँच बार स्नान अवश्य किया करती थीं। प्रत्येक स्नान के बाद पहले वाले कपड़े छोड़ दिया करती थीं, लेकिन यह सब तन-मन की शुद्धि के लिए होता था। नारी सुलभ सहज शृंगार बोध के लिए नहीं। उनके घर में सब कुछ था लेकिन, आइना नहीं था। वह आँखों से नहीं अंतर्दृष्टि से मुख को देखा करती थीं।

जब पहली बार मैं उनसे मिला तब उन दिनों मैं 'साहित्य संदेश' में काम करता था। वह उसे पढ़ती थीं। 'साहित्य संदेश' ही क्यों, जो भी नई पुस्तक, नई पत्रिका उन तक पहुँचती थी वह उसे अवश्य पढ़ा करती थीं। सदा से ही उनकी रुचि लिखने से अधिक पढ़ने में रही। पुराना तो उन्होंने सब कुछ पढ़ा ही था, नये ग्रंथों, नये विचारों और नए वाद-विवादों से भी वह अपरिचित नहीं रहती थीं। इसलिए मेरा नाम भी उन्हें याद हो गया था। आसन से उठ कर ऐसे मिलीं कि जाने मुझे कब से पहचानती हों। देर रात गए जब लौटने लगा तब पूछा—"प्रयाग में कब तक हो ?" दूसरे दिन भोजन का निमंत्रण भी दिया। पहली यात्रा से जब वापस लौटने लगा तो लगभग आदेश के स्वर में बोलीं—"इलाहाबाद आया करो तो मिला अवश्य करो।" उस दिन क्या बातचीत हुई यह अब याद नहीं। लेकिन याद है उनका सरल आत्मीय व्यवहार और मुक्त हास्य, जो रह-रहकर हार-सिंगार के फूलों की तरह झर पड़ता था। कुंद कली-सी अमल-धवल दंत-पंक्ति रह-रहकर झलक जाती थी। मैं देश-विदेश में हजारों नर-नारियों से मिला हूँ। साहित्यकारों, कलाकारों, विदुषियों और सुंदरियों से भी परन्तु, महादेवी जी हँसते समय जितनी सुंदर लगती थी और उसके विचारों में जो वैदूष्य प्रकट होता था, वह मैंने कहीं नहीं देखा। कभी नहीं देखा। अब तो देख ही नहीं पाऊँगा। महादेवी जी काव्यकला, चित्रकला, वचन माधुरी और प्रवचन पटुता की कला में ही अनुपमेय नहीं थीं, उनकी पाक-कला का भी कोई जवाब नहीं है। कचौरी और समोसे, चटनी और गोलगप्पे, मठरी और गुझिया

और मनभावन मोदकों के साथ वह दक्षिण भारतीय इडली, दोसा, रसम और अरहर की दाल भी बहुत बढ़िया बनाती थी। उनकी शिष्यायें ही उनका घरबार देखती थीं, तीमारदारी भी करती थीं, परन्तु पता नहीं उनमें से कितनी ऐसी होंगी जिन्होंने महादेवीजी के द्वारा विविध प्रकार के चावल बनाने, दाल में छोंक या तड़का लगाना भी सीख लिया होगा। मैं उन थोड़े से सौभाग्यशालियों में से हूँ जिसने उनकी रसोई का रस प्राप्त किया है। एक बार होली पर जो उनका जन्मदिन भी था, उनके घर पर जा पहुँचा। इलाहाबाद का साहित्यिक समाज भी जुड़ा हुआ था। वे होली खेलने नहीं, महादेवी के हाथ की गुझिया और छोटे-छोटे समोसे उदरस्थ करने के लिए आए थे। महादेवीजी हँस-हँसकर परोस ही नहीं रही थीं, हर प्लेट पर उनका ध्यान था और हर व्यक्ति की रुचि का उन्हें ख्याल था। मजाल है कि कोई बंधु अतृप्त रह जाए।

## मान नहीं, स्वाभिमान

एक ओर तो वह परिवारिकता और देवीजी का अन्नपूर्णा स्वरूप और दूसरी ओर उनका अदमनीय स्वाभिमान। वह छोटे-से-छोटे साहित्यकार के सामने झुकने को तैयार रहती थीं और बड़े-से-बड़े राजपुरुष के अहमन्य व्यक्तित्व को सहज ही नकार देती थीं। गाड़ी आई। सेक्रेटरी ने बा-अदब कहा—"वीरबहादुरजी ने आपको याद किया है।" उत्तर दिया—"कौन वीर-बहादुर ? मुझे उनसे कोई काम नहीं है। उन्हें कोई काम हो तो सप्रेम आएं।" 'भारत-भारती' पुरस्कार की पेशकश की गई। उन्होंने दो बार अनिच्छा प्रकट की। तीसरी बार जब साहित्यिक मंडली आमंत्रित करने आई तो सशर्त स्वीकृति दे दी। बहुचर्चित ज्ञानपीठ पुरस्कार का प्रस्ताव उन तक पहुँचा। पूछा उन्होंने—"किस बात का पुरस्कार ?" बताया गया कि 'यामा' पुस्तक लिखने पर। उन्होंने पूछा—"'दीपशिखा' पर क्यों नहीं ? इस या उस पुस्तक पर क्यों नहीं ?" तात्पर्य यह है कि साहित्यकार को उसकी किसी विशेष कृति पर नहीं, समग्र लेखन को तोलकर दिया जाना चाहिए। इसके लिए आयोजकों को अपने संविधान में संशोधन करना पड़ा। तब महादेवीजी आईं। ब्रिटेन की प्रधानमंत्री श्रीमती थैचर को उनका अभिनन्दन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

जीवन में उन्हें बाल्यकाल से ही अनेक पदक और पुरस्कार मिले। उन्होंने व्यक्तित्व की विनम्रता के साथ उन्हें स्वीकार भी किया, लेकिन साहित्यकारों के स्वाभिमान को छोड़कर नहीं, चाहे वह सेकसरिया पुरस्कार हो या मंगलाप्रसाद पारितोषिक।

## निर्मल हास्य : मीठा व्यंग्य

वह हँसती ही नहीं थीं, परिहास भी बहुत महीन और मोहक किया करती थीं। एकबार उन्होंने बताया – 'तुम्हारी दिल्ली से एक कवयित्री आई थीं, भाई···। मुझे चुनौती दे गई हैं कि तुम क्या लिखती हो और तुम्हारे पंतजी क्या लिखते हैं। सुनो मेरी कविताएं। एक दर्जन कविताएं मुझे सुना गईं। मैंने उनसे कहा—"तुम पंतजी से मिली हो ?" तो वह बोली—"कल मिल रही हूँ।" मैंने पंतजी को फ़ोन कर दिया कि सावधान ! दिल्ली से एक महान कवयित्री पधारी हैं। कल रात वह मुझ पर कृपा कर चुकी हैं और आज आपको उपकृत करने आ रही हैं। बाद में पंतजी मिले तो भैया, उन्होंने जो उस कवयित्री का खाका खींचा तो मैं लोटपोट हो गई। अब इलाहाबाद में क्या रखा है। कवि और कवयित्रियों की खान तो तुम्हारी दिल्ली में है। बड़े-

बड़े दुर्लभ रत्न पैदा कर रहे हो आप लोग। यह कवयित्री तुम्हारे साप्ताहिक में छपी हुई कविताओं का पुलिंदा भी साथ लाई थीं। धन्य हैं आपकी पत्रकारिता और धन्य है आपकी दिल्ली।"

यह पहला प्रसंग नहीं है। मंच के कवियों और राजनीति की तरह साहित्य के हनुमानों, मठों और मठाधीशों, स्वयंभू साहित्यकारों एवं स्वयं अपने प्रचार में माहिर लोगों पर वह ऐसे मीठे व्यंग्य करती थीं कि तबीयत हरी हो जाती थी। एकबार उन्होंने कहा—"दिल्ली की तुम जानो। हमारे प्रयाग में तो कुछ ऐसे साहित्यकार भी हैं जो नाग पंचमी के दिन कटोरे में दूध भरकर दूसरे साहित्यकारों की देहरी पर रख आया करते हैं।" उन्होंने स्वयं लिखा है कि जब **मैथिलीशरण गुप्तजी** को उन्होंने पहली बार दाढ़ी बढ़ाये और पगड़ी बाँधे देखा तो हमने हँस-हँसकर उनकी हू-ब-हू नकल उतारी थी। ऐसी थीं चपल और चुहल चुहचुही हमारी देवी जी।

एकबार **नेहरूजी** ने भी इन पर मीठा परिहास किया—दिल्ली के एक आयोजन में, जो महादेवी जी के सम्मान में आयोजित किया गया था। जवाहरलाल जी आये। देर तक लोगों के भाषण सुनते रहे। जब उनसे 'दो शब्द' कहने को कहा गया तो वह सिर्फ़ इतना बोले—"महादेवीजी के संबंध में क्या कहूँ? वह हैं और जोरों पर हैं।" यह कहा और यह जा और वह जा। महादेवीजी हँसती ही रह गईं। क्योंकि उत्तर देने का मौक़ा हाथ से जा चुका था।

## उनका 'तुम' कौन?

मैंने महादेवी जी के अपरिचित, अभूतपूर्व, अनजाने और अनोखे पति को भी देखा है। पहले नाम याद था, अब नहीं रहा। मैंने उनके पुत्र को भी देखा है। आप चौंकेंगे, लेकिन मुझे उसका नाम याद है—'गिल्लू।' एक गिलहरी का छोटा-सा बच्चा था वह। जिसे एक कागभुशुंडि ने चोंचें मार-मारकर घायल कर दिया था। महादेवी ने उसे बचाया, उपचार किया। घर में उसके लिए एक घोंसला बनाया, फिर तो वह इतना हिल-मिल गया कि रात को उनके बिस्तर पर लेटने लगता और अँगुलियाँ चूसने लगता। जब वह स्वस्थ हो गया और उसके जीवन में वसंत आया तो देवीजी ने उसे मुक्त कर दिया। पर वह अपने साथी-साथिनों के साथ केलि करता लेकिन शाम को धूल-धूसरित होकर अपनी माँ की छाती से लग जाता। रात भर उनके पलंग के चक्कर काटता फिर उनके पैरों तले सो जाता। मैंने सुना है और आप भी सुन चुके होंगे कि कविता लिखने वालों का एक प्रियतम या प्रियतमा अवश्य होती है। उसके बिना कविता, विशेषकर गीत लिखे ही नहीं जा सकते। कविता के लिए उसका संयोग या वियोग तो होना ही चाहिए। मैंने महादेवी जी के प्रियतम को जानने की बड़ी बड़ी कोशिश की। कुछ इलाहाबादी साहित्यकारों से इस संबंध में किवदंतियाँ भी सुनीं। खासकर उनसे जो अपने आप को देवीजी का सबसे अधिक निकटवर्ती बताया करते थे, परन्तु, उनके गीतों को पलटते-पलटते मैं उनका नाम तो जान गया हूँ, परन्तु पता नहीं। नाम है उसका—'तुम' यह तुम कौन है? इसकी छायावादी व्याख्या अलग है और फ्रायडी कामशास्त्रियों की अपनी कुंठा अलग है। मैं इस व्यर्थ के पचड़े में नहीं पड़ना चाहता। हाँ, इतना अवश्य कह सकता हूँ कि उनका अपना कोई निजी परिवार न होते हुए भी उसका दायरा बहुत बड़ा था। **निरालाजी, पंतजी** और **नेहरूजी** उनके राखीबंध भाई थे। **सुभद्रा कुमारी चौहान** जैसी उनकी कई बहनें थीं, कितने ही कवि, लेखक, और पत्रकार उनके लिए पुत्रवत थे और प्रयाग महिला विद्यापीठ की सैकड़ों

छात्राओं के लिए वह आदर्श गुरू थीं। वे ही अन्तिम दम तक उनके स्वास्थ्य की और घर की देखभाल करती रहीं। पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों और कलाकृतियों का जिक्र तो ऊपर कर ही चुके हैं। यही सब उनका विस्तृत परिवार था।

अबोधावस्था में महादेवी जी से जिनका विवाह हुआ था, उनसे मैं एक बार दिल्ली में मिल चुका हूँ। बड़े अनोखे और आत्मलीन दिखाई दिये मुझे वह। एकदम विक्टोरियन युग के प्रतीक। उसी जमाने का फर्नीचर था उनके ड्राइंगरूम में। लॉर्ड बनने को उत्सुक भारत के अंग्रेजी शासन के ज़मींदारों की तरह का रहन-सहन था उनका। वही क़ायदा और वही करीना। औपचारिक ढंग से ही मुझसे वह मिले। थोड़ी देर इधर-उधर की बातों के बाद जब मैंने उनसे महादेवी का प्रसंग छेड़ा तो बोले—"वह वहाँ ठीक हैं और मैं यहाँ ठीक हूँ।" जब मैंने पूछा—"कभी याद आती है?" तो बताया—"याद रखने लायक कोई बात है ही नहीं तो याद कैसे आए?" वह इस मामले में ज्यादा बात करने के मूड में नहीं थे फिर भी मैंने अन्तिम प्रश्न दाग ही दिया—"अगर महादेवी परिणीता होकर आपके साथ रहती तो आपके सौभाग्य में चार चाँद न लग गये होते?" उन्होंने उठते-उठते उत्तर दिया—"जनाब, यह क्यों भूलते हो, तब देवी महादेवी नहीं बनती और मैं ऐसे सुख-चैन से नहीं रह पाता।" उन्होंने चुरुट सुलगा लिया। टहलते-टहलते दरवाज़े की ओर गये। परदा सरकाया। संकेत स्पष्ट था कि बस, अब मैं जा सकता हूँ।

## दु:ख लिखा, भोगा नहीं

स्वतंत्रता के बाद देश में आई गिरावट, मूल्यों के ह्रास और सांस्कृतिक पतन तथा हिन्दी की अप्रतिष्ठा को लेकर वह इतनी खिन्न हो गईं कि आपसी बातचीत में ही नहीं, जब कभी बोलने और लिखने का अवसर आया तो उन्होंने राज-समाज की दयनीय स्थिति पर निर्भयता से अपने विचार प्रकट करने में कोई संकोच नहीं किया। उनका कहना था कि सांस्कृतिक ह्रास के होते भौतिक समृद्धि बेमानी है। उन्होंने बार-बार लिखा और कहा भी कि जब तक देश में हिन्दी प्रतिष्ठित नहीं होगी, राष्ट्र का मस्तक झुका ही रहेगा। हिन्दी के साहित्यकारों में जिस दृढ़ता से महादेवी ने हिन्दी का समर्थन किया, वैसा किसी अन्य ने नहीं।

एक बार बिड़ला अकादमी में संस्कृति विषयक उनका महत्त्वपूर्ण व्याख्यान हुआ। सांस्कृतिक उपादानों के रूप में कमल का नाम आना ही था, आया। कमल का आना हुआ कि महादेवी जी ने मुस्कुरा कर कहा कि "हमारे साहित्यकारों ने कमल को लेकर अति कर दी है—'नव कंज लोचन, कंज मुख कर, कंज पद कंजारूणम'। चरण-कमल, नाभि कमल, मुख कमल, नेत्र कमल, भुजायें कमल नाल जैसी और न जाने कहाँ-कहाँ कमल खिला दिये हैं हमारे कवियों ने, कमल क्या हुआ अमेरिकी डालर हो गया, जिसे हर जगह भुनाया जा सकता है।" इसी भाषण में उन्होंने राजकीय और अराजकीय सांस्कृतिक समारोहों की वह धज्जियाँ उड़ाईं की अगर लोग इस कान से सुनकर उस कान से निकाल न देते तो संस्कृति के नाम पर ये घिनौने प्रदर्शन कब के बंद हो गये होते।

एक बार मैंने महादेवीजी से पूछा—"आप हर समय, हर कविता में दु:ख का रोना क्यों रोया करती हैं?" मैं तब तक उनसे काफी खुल चुका था और वह भी। मेरे प्रश्न पर उन्होंने जोर का ठहाका लगाया और हँसी-हँसी में बड़ी गंभीर बात कह गईं—'इसलिए कि मैंने जीवन

में दुःख कभी भोगा ही नहीं'। उस समय तो नहीं, मैंने बाद में सोचा कि महादेवी जी ने ठीक ही कहा कि अभाव में से ही भाव की सृष्टि होती है। जो प्राप्य है उसे लोग भोगते हैं और जो अप्राप्य है उसे अपने-अपने तरीके से व्यक्त करते हैं। तात्पर्य है कि उनकी हँसी भी सार्थक, विनोद भी सार्थक और व्यंग्य भी मारक होने के साथ-साथ तारक भी हैं, न जाने ऐसे-ऐसे कितने सूत्र हैं जो उनके साहित्य में बिखरे हुए हैं।

## छायावाद और इलाहाबाद

एक बार **हजारीप्रसाद द्विवेदी** ने मौखिक परीक्षा के एक विद्यार्थी से पूछा—"छायावादी कवियों के नाम बताओ?" उसने उत्तर दिया—"महादेवी, पंत और निराला"। द्विवेदीजी ने फिर पूछा—"ये कहाँ रहते हैं?" छात्र ने बताया—"इलाहाबाद में।" द्विवेदीजी बड़े विनोदी स्वभाव के थे, पूछ ही लिया—"इलाहाबाद और छायावाद में क्या अंतर?" छात्र ने क्या उत्तर दिया यह मुझे पता नहीं। अगर मुझसे पूछा जाता तो कहता—वाद का विवाद इलाहाबाद में रह गया और छाया दिल्ली चली गई है।

दिल्ली में ही देश का सब कुछ सिमट गया है आज। राजनीति ही नहीं, संस्कृति, साहित्य और कला भी। इनके पुरोधा सब दिल्ली की ओर दौड़ रहे हैं, लेकिन महादेवी जी ने जीवन भर न दिल्ली की ओर रुख किया और न दिल्ली में बैठी हुई सत्ता की ओर। वह सही अर्थों में साहित्य की साधिका थी। ममतामयी माँ और स्नेहमयी बहिन। एक बार जब मैंने उनसे दिल्ली में अपना आसन जमाने को कहा तो बोलीं—"भइया, अपने राम तो यहीं भले हैं"—'संतन कहा सीकरी सों काम'।

## अर्चना-सी, आरती-सी वह बेला

और अंत में, दुःखों के गीत गाने वाली महादेवी पर दुखों का पहाड़ टूट पड़ा। पहले आँखों में बेरी-बेरी रोग हुआ फिर गुसलखाने में नहाते-नहाते गिर पड़ीं और हड्डियाँ चटक गईं, फिर आई गले की बारी। दिल्ली में गले का ऑपरेशन हुआ। मेरी षष्टिपूर्ति के आयोजन में शामिल होने के लिए दिल्ली आ रही थीं कि मोटर में बैठने से पहले ही गिर पड़ीं, पैर की हड्डी चटकी, हाथ में प्लास्टर बँधा, सीना सिकुड़ने लगा, साँस लेने में कठिनाई होने लगी, रक्तचाप घटा और बढ़ा और अंत में महाकाल ने कहा—हे पितामह की देवी दुर्गे! हे साहित्य की महादेवी! धरती पर तुम्हारा कार्य पूरा हो गया। अब यहाँ नहीं, तुम्हारी जरूरत वहाँ है। ११ सितम्बर, १९८७ को रात के साढ़े नौ बजे उनका मधुर-मधुर जलने वाला दीपक बुझ ही गया। जो 'नीर भरी बदली' की तरह साहित्याकाश में उमड़ी थी, उसे काल की आँधी न जाने कहाँ उड़ा ले गई। विदा बेला आ पहुँची। याद आया उन्हीं का एक गीत—

**यह विदा बेला!**
**अर्चना-सी, आरती-सी यह विदा बेला।**
**धूलि की लघु वीणा ले, छू तार मृदु तृण लचीले,**
**चुन सभी बिखरे कथा-कण, हास भीने, अश्रु गीले**
**गीत मधु के, राग घन के, युग विरह के, क्षण मिलन के**
**गा लिए जिसने सभी स्वर नमित भू उन्नत गगन के**
**साथ जिसकी उँगलियों के सृजन पारावार खेला,**

आज अभिनव लयवती, उसकी विदा बेला।
सौंप दी वह वीण उसने, रिक्त करली आज झोली,
सब लुटाकर सिद्धियां पुलकित करों से नाव खोली,
मत कहो 'निस्पंद तम है, वह अमर तट चिर अगम है,
प्राण में संकल्प उसकी, भृकुटियों पर दीप्त श्रम है,
बंधनों की चाह से वह मुक्ति-पथ में भी टुकेला
अजर वरदानी अतिथि की यह विदा बेला!
अमर बेला!

सहसा दोनों हाथ उठे। परस्पर मिले। हृदय से लगे। आँखें नम हुईं। मस्तक झुक गया। आँसुओं से गीले होंठ बुदबुदाए—

**महादेवी नमोस्तुते!**

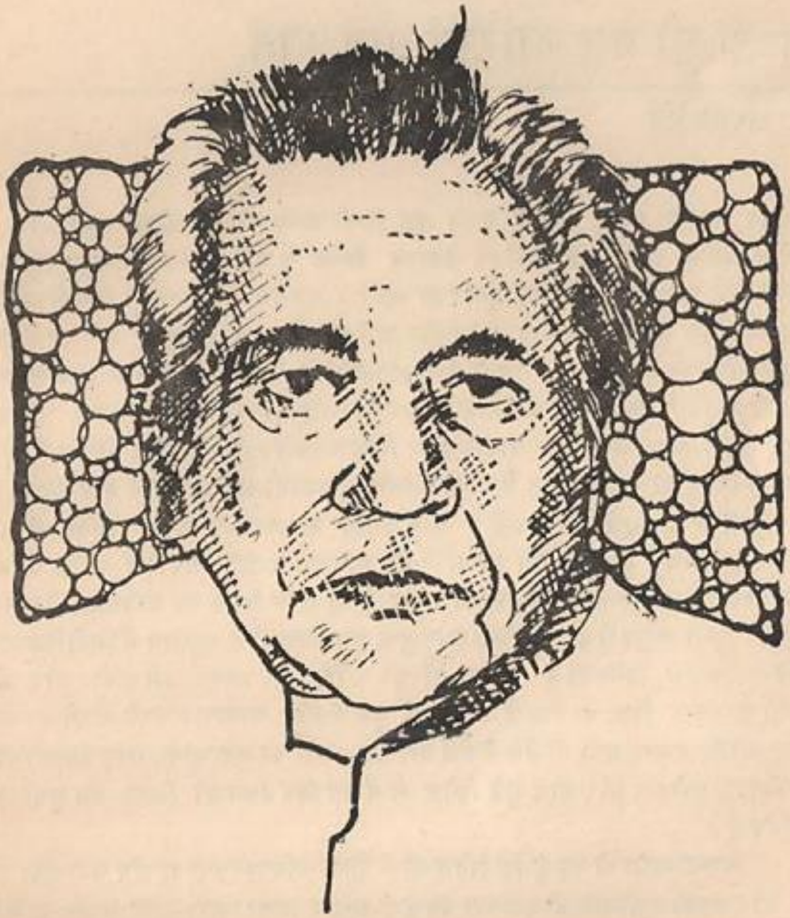

देवराज 'दिनेश'

जन्म : २२ जनवरी १६२२

निधन : १२ सितम्बर १६८७

# तुम्हीं सो गए लोरियाँ गाते गाते

□ शेरजंग गर्ग

**लगभग** चालीस वर्ष से अधिक समय तक हिन्दी काव्य-मंच की शोभा बढ़ाने और अपना वर्चस्व बनाये रखने वाले कविवर **देवराज 'दिनेश'** के बारे में लिखते समय कहाँ से शुरू किया जाये, यह निर्णय मेरे लिए दुष्कर हो रहा है। यह तय कर पाना भी आसान नहीं है कि देवराज दिनेश को गीतकार मानें या राष्ट्रीय ओज का कवि, उन्हें व्यंग्यकार मानें या नाटककार कहकर संबोधित किया जाये। मंच के श्रेष्ठ कवियों में से एक कहा जाये या आकाशवाणी के नाटकों में गूँजती उस आवाज़ के प्रतीक के रूप में सराहा जाये, जिसकी कड़क, पौरुष और कलात्मकता बरबस अपनी ओर आकर्षित कर लिया करते थे। तथापि, यह निर्विवाद है कि आज देवराज दिनेश को सम्पूर्ण भारत में कवि-सम्मेलनों के यशस्वी कवि के रूप में याद किया जाता है। हिन्दी के काव्य-प्रेमी श्रोताओं के बीच उनकी 'माराण्यां की लोरी', 'सैनिक की पाती', 'जवानी', जीवन', 'रावण', 'तभी मरूँगा' आदि कविताएं इतनी लोकप्रिय थीं कि लोग उन्हें साँस रोककर गहरी तन्मयता से सुनते थे। सच तो यह है कि दिनेश इन कविताओं के पर्याय बन गए थे। हिन्दी अकादमी द्वारा मैथिलीशरण गुप्त जन्म शताब्दी के उपलक्ष्य में आयोजित राष्ट्रीय कवि-सम्मेलन में दिनेशजी ने 'भारत माँ की लोरी' का अत्यन्त ओजस्वी और प्रभावशाली काव्यपाठ किया था। उन्हें इतने गहरे मूड के साथ काव्यपाठ करते देखने का यह मेरे लिए अन्तिम अवसर था। यों मैंने सैकड़ों बार इस रचना को सुना होगा, मगर जितनी गरिमा, तल्लीनता, सरोकार और ओज मुझे दिनेश जी में उस दिन देखने को मिला, उसे भुला सकना असंभव है।

वास्तविकता तो यह है कि दिनेश जी के बिना कविसम्मेलनों का मंच सूना-सूना लगता था और उनकी उपस्थिति को सफलता की कुंजी समझा जाता था। उनके काव्यपाठ में संयत आरोह-अवरोह से युक्त स्वरलहरी, शब्दों को अनूठी भंगिमा और व्याख्या देने का विशिष्ट अन्दाज़ देखने-सुनने और अनुभव करने की चीज़ था। अपने निकटतम मित्रों, साथियों और अनुजों के बीच उन्हें 'दद्दा' कहकर पुकारा जाता था। मूड में होते तो स्वयं से सम्बधित कवि-सम्मेलनी संस्मरण सुनाते समय वे प्रायः अपने लिए 'देवताओं का राजा' शब्द का इस्तेमाल करते। वर्षों तक रीगल बिल्डिंग स्थित 'टी हाउस' में उन्होंने अपनी शामें संस्मरणों, कहकहों, दोस्तों और कॉफी के प्यालों के बीच गुजारी थीं। टी हाउस की लम्बी-चौड़ी मेज़ों के इर्दगिर्द कवि-साहित्यकार मित्रों, आकाशवाणी के कलाकारों और कवि-सम्मेलनों के संयोजकों से घिरे दिनेश जी अपने कद्दावर व्यक्तित्व, बुलंद आवाज़ और कवियोचित अन्दाज़ के कारण सहज ही

पहचाने जाते थे।

आज से लगभग तीस वर्ष पूर्व शायद कविवर श्रीराम शर्मा 'प्रेम' के देहरादून स्थित निवास पर फिर ब्रह्मदेव जी के आर. के. स्टूडियो में मेरी पहली मुलाकात दिनेशजी से हुई थी। शाम को डी. ए. वी. कॉलेज में कवि सम्मेलन था। इस सम्मेलन में उन्होंने 'पहले मुझे बता दो मरघट तक पहुँचाने कौन चलेगा, तभी मरूँगा' जैसा सशक्त गीत सस्वर सुनाने के साथ-साथ अपनी 'नौकर' शीर्षक व्यंग्य रचना भी सुनाई थी। दिनेशजी खूब जमे थे और अगले कई दिनों तक देहरादून की काव्य-प्रेमी जनता में चर्चा का विषय बने रहे थे।

## प्रेमानुभूतियों के कवि

दिनेश जी की ख्याति आज राष्ट्रीय जागरण के कुशल चितेरे के रूप में है, मगर प्रारंभ में उन्होंने प्रेम की सहज अनुभूतियों में पगे प्रेम गीतों की ही रचना की थी। 'उस दिन कवि से हँसकर 'बोले सखि दो नयन सलोने, रूप सिंधु में क्यों आया है अपना यौवन खोने' और 'मुझे भुलाने की तुम सौ-सौ क़समें खाती हो, मगर तुम भुला न पाती हो' जैसे आत्मीय और मधुर गीतों के रचनाकार दिनेश ने सैंकड़ों की संख्या में प्रेमगीत लिखे हैं। प्रेम से सराबोर निम्नांकित पंक्तियों को तो वे अपने अन्तिम समय तक भी गाते-गुनगुनाते रहे :

**मैं यौवन का इतिहास, जलन के बहुत पास**
**जिन पर न कभी यौवन आया, वे क्या जानें,**
**दिल की धड़कन के गीत, जलनमय मुस्कानें ?**
**है जीवन में गुंजार, मगन क्रन्दन में भी है,**
**मैं भँवरे का उल्लास, नलिन के बहुत पास।**

× × ×

**आगे कंचन-मृग, पीछे अद्‌भुत बनवासी**
**थीं ऋद्धि-सिद्धि परियाँ जिन चरणों की दासी**
**मैंने उस प्रबल धनुर्धर को रोते देखा,**
**मैं नियति नटी का हास, रुदन के बहुत पास**
**मैं यौवन का इतिहास, जलन के बहुत पास**

दिनेश का सम्पूर्ण व्यक्तित्व प्रेम और मस्ती का पर्याय था। उदासी को वे अपने करीब फटकने ही नहीं देते थे। हालाँकि कई बार मैंने उन्हें अन्यमनस्क और परेशान भी पाया, मगर थोड़ी देर के लिए। तकलीफ़, पीड़ा, परेशानी और खिन्नता के प्रसंगों को टालने में वे माहिर थे। ऐसी मनःस्थिति में मिलते तो कहते, "डॉक्टर, आज सुबह से ही कुछ खिन्न हूँ। अच्छा हुआ तुमसे मुलाक़ात हो गई।" फिर बातों-बातों में पूरी तरह नार्मल हो जाते और पारिवारिक, सांसारिक प्रसंगों में खो जाते। इस दौरान कॉफी का एक दौर चल चुका होता तो दूसरे दौर का बहाना तलाश लेते। 'कॉफी कुछ ठण्डी हो गई थी। अब की बार ज़रा और तेज गरम हो।' उर्मिल भाभी, किरण बेटी, राजीव, दिलीप या दोनों बहुओं में से किसी एक को आवाज लगाकर कहते। अलग होते तो अगली बार मुलाक़ात का समय तय कर लेते। मुझे आज तक कोई ऐसी मुलाक़ात याद नहीं आ रही कि हम अलग हुए हों और अगली भेंट के बारे में तय न किया गया हो।

## मालवीय नगर माने देवराज दिनेश

अपनी जिन्दगी के लगभग अट्ठाइस वर्ष उन्होंने मालवीय नगर में रहते हुए गुजारे थे। बाद में उनके साथ अल्हड़ कवि रामावतार त्यागी और ओम्प्रकाश आदित्य भी आ जुड़े थे। उनकी शामें या तो कवि-सम्मेलनों में कटतीं या फिर दोस्तों की मण्डली में। बाद में रामावतार त्यागी अपने गुलमोहर पार्क वाले मकान में चले गए, मगर दिनेश जी के पास प्रायः आते रहते थे। सिर्फ़ रामावतार त्यागी के लिए ही नहीं, हिन्दी के छोटे-बड़े साहित्यिक दोस्तों, सम्मेलनों के संयोजकों, सभी के लिए मालवीय नगर आने का मतलब था देवराज दिनेश से मुलाक़ात। मोहन राकेश हों या कमलेश्वर, रामानन्द हों या रमानाथ अवस्थी, विष्णु प्रभाकर हों या बाल कवि वैरागी, नीरज हों या वीरेन्द्र मिश्र, रतनलाल बंसल हों या मुस्तवा हुसैन, गोपाल कृष्ण कौल हों या गोपाल कौल (दूरदर्शन वाले), राधेश्याम प्रगल्भ हों या सोम ठाकुर, क्षेमचन्द्र सुमन हों या शैलेन्द्र कुमार पाठक, ताराचन्द खण्डेलवाल हों या वीरेन्द्र प्रभाकर, बालस्वरूप राही हों या सुरेन्द्र मल्होत्रा, भवानी भाई हों या सर्वेश्वरदयाल सक्सैना—समूचे साहित्य-जगत के लिए मालवीय नगर का अर्थ था देवराज दिनेश।

## नौकरी ना करी

दिनेशजी ने जीवन पर्यन्त किसी प्रकार की नौकरी नहीं की। इसका उन्हें नाज था, इस हद तक कि सामने बैठा हुआ आदमी उनके गर्व और गौरव के सामने नतमस्तक हो जाता था। फ़्रीलांसिंग की अनिश्चितता के सम्पूर्ण जीवन-काल में, उनके लिए जीविकोपार्जन के साधन थे आकाशवाणी के कार्यक्रम, पुस्तकों की रायल्टी या एक मुश्त प्राप्त राशि, समाचार पत्रों का पारिश्रमिक और कवि-सम्मेलन। यह भी हुआ कि पांडुलिपियों का कॉपीराइट प्रकाशक को ही सौंप और जो प्राप्त हुआ, स्वीकार कर लिया। परिणामतः कुछ किताबें अनछपी भी रह गईं और आन के पक्के दिनेश ने फिर उन्हें किसी दूसरे प्रकाशक को न दिया। मरते दम तक उनकी यह आन बनी रही। उन्होंने नौकरी से समझौता नहीं किया, तो नहीं किया। किसी आयोजन को सफल बनाने और छात्र-छात्राओं का मन रखने के लिए वे बिना पारिश्रमिक काव्य पाठ करना भी स्वीकार कर लेते थे।

## बातों के धनी

दिनेशजी का सबसे बड़ा धन था उनकी प्यार, लाड़, मस्ती और निश्छलता में डूबी हुई बातें, उनके मधुर और मोहक संस्मरण। उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी, विनोद शर्मा के साथ-साथ बच्चन, बालकृष्ण राव और रेडियो-टी. वी. के अनेक साहित्यकारों एवं कवि-सम्मेलनों के संस्मरणों का भरपूर भण्डार उनके पास था। दोस्तों के साथ बातों में लग जाते तो थमने का नाम न लेते और संस्मरण पर संस्मरण, हाजिर जवाबी के नायाब नमूने पेश करते जाते थे और यार लोग प्रफुल्लित-आनन्दित होते रहते थे। बात को खम देने और साथियों का समर्थन पाने के लिए अपना दाहिना हाथ किसी भी दोस्त की तरफ बढ़ा देते थे। हाथ मिलाकर फिर नई बात छेड़ देते थे, बात पूरी होने पर फिर हाथ बढ़ा देते थे। मगर पिछले पाँच-चार साल से उन्होंने अपनी यह अदा छोड़ दी थी। उनकी क़िस्सागोई बेमिसाल थी। पहली मुलाक़ात में ही लोग उनके हो जाते थे और उन पर अपना प्यार उँडेलने लगते थे।

दिनेशजी आवाज के अभिनय में पूर्णतः माहिर थे। आकाशवाणी के सैकड़ों नाटकों में आवाज देने के साथ-साथ उन्होंने मंचीय नाटकों में भी हिस्सा लिया था। यही कारण है कि काव्य-पाठ में नाटकीयता और नाटकों में कवियोचित संवेदना का समावेश करने में सफल हो जाते थे।

## सामाजिक सरोकारों के कवि

दिनेश मूलतः सामाजिक सरोकारों के कवि थे। कविवर निराला पर रचित उनकी कविता 'दुनिया आज चली है कवि को माँग-माँग कर अन्न खिलाने' संवेदनात्मक व्यंग्य और रचनाकार के स्वाभिमान का जीवंत दस्तावेज है। 'यह शहरी सभ्यता तमाशा कठपुतली का' शीर्षक लम्बी कविता में उन्होंने शहरी सभ्यता की कृत्रिमता को रेखांकित करने में अपने उच्चकोटि के काव्य-कौशल का परिचय दिया है :

**संघर्षों में उलझे मेरे तन-मन दोनों**
**ऊपर से खिलते हैं भीतर से उदास हैं**
**अपनेपन का कुछ आभास नहीं देते हैं**
**रहते जो प्रायः जीवन के आसपास हैं**
**मित्र शब्द का मूल्य यहाँ इतना सस्ता है**
**आँखों से ओझल होते हालत खस्ता है**
**जिन फूलों के गंध न अब तक परख सका मैं**
**सजा हुआ उनसे जीवन का गुलदस्ता है**

उनके काव्य संकलनों में 'भारत माँ की लोरी', 'जीवन और जवानी', 'गंध और पराग' तथा 'पुरवैया के नूपुर' प्रमुख हैं। मगर मेरी मान्यता है कि आज 'भारत माँ की लोरी' की कविताएं ही दिनेश को काव्य जगत में अमर बनाये रखने के लिए पर्याप्त हैं। यह विडम्बना ही है कि मुख्यतः कवि-सम्मेलनों को काव्याभिव्यक्ति का माध्यम बना लेने वाले दिनेश की ओर साहित्य-समीक्षकों ने विशेष ध्यान नहीं दिया। यद्यपि उन्होंने कभी मुखर होकर इस प्रसंग में खिन्नता व्यक्त नहीं की, मगर उन्हें इसकी पीड़ा अवश्य थी। उन्होंने कहा भी है :

**सरस्वती के वरदपुत्र का जीना मुश्किल**
**क्योंकि कला पर राजनीति छाई जाती है।**

कविता और नाटक लिखने के साथ-साथ उन्होंने ललित व्यंग्य निबंध भी बड़ी मात्रा में लिखे थे। 'काठ की हाँडियाँ' तथा 'रिश्वत के अनेक ढंग' में उनके कतिपय व्यंग्य लेख संकलित हैं। बाल साहित्य के क्षेत्र में दिनेशजी ने कई श्रेष्ठ पुस्तकों की रचना की है। हाल ही में उन्होंने अपने बाल्यकाल के संस्मरणों की पुस्तक 'दिबुवा' पूरी की थी। उनकी श्रेष्ठ व्यंग्य कविताओं का संकलन अभी तक अप्रकाशित पड़ा है। नाटकों में 'रावण' की चर्चा व्यापक है, मगर उसका भी अद्यतन संस्करण नहीं छप सका है। तथ्य यह है कि उनका जितना साहित्य अब तक प्रकाशित हुआ है, उससे कहीं अधिक प्रकाशन की प्रतीक्षा में है।

पिछले पाँच वर्षों से दिनेश जी अस्वस्थ चल रहे थे। उनके पैर का जख्म ठीक होने में नहीं आ रहा था। मधुमेह ने उन्हें भीतर से जर्जर कर दिया था। परहेज से परहेज करते थे, मगर जीवट के धनी दिनेश ने कवि सम्मेलनों की कष्टप्रद यात्राओं को भी सहज भाव से झेलना

स्वीकार कर रखा था। अस्वस्थता के बावजूद अपने प्रेमियों और प्रशंसकों का आग्रह नहीं टाल पाते थे। अकेलेपन के दुश्मन थे। दोस्तों की महफ़िल, बेटे-बहुओं का साथ, नाती-पोतियों की शरारतों में शामिल होना और कॉफी की चुस्कियाँ उनकी कमज़ोरी थी। ताश के इतने शौकीन थे कि कई बार तो मैंने उन्हें अकेले ही ताश खेलते पाया है।

'भारत माँ की लोरी' के गायक दिनेश ने अपनी यह कविता सन् '६२ के चीनी आक्रमण के समय रची थी, जिसमें भारतीय जनता की जागरूकता के प्रति कवि की अदम्य आस्था के दर्शन होते हैं। कविता भारत माँ को केन्द्र में रखकर रची गई है, जिसमें भारत माता अपने इतिहास-पुत्रों को लोरी देते हुए, अपनी वर्तमान सन्तानों के प्रति गहन प्रेम का प्रदर्शन करके इतिहास-पुत्रों को आश्वस्त करती है कि 'मेरे युग का प्रहरी पूरा जागरूक है।' यह कविता सचमुच ही अपने ढंग की अनूठी राष्ट्रीय रचना है, जिसे रेडियो रूपक मंच प्रस्तुत अथवा काव्य-पाठ के विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया जाता रहा है। दिनेशजी ने काव्य-मंचों से हज़ारों बार इस रचना को अपने अनोखे अन्दाज़ में प्रस्तुत किया होगा। मगर मीठी-मधुर ओजपूर्ण लोरियाँ गाने वाला यह विशिष्ट कवि अब स्वयं ही चिरनिद्रा में विलीन हो गया है। दिनेशजी के परिवार-जन, असंख्य मित्र और प्रशसंक नियति की इस क्रूरता पर विश्वास नही कर पाते और उनकी नींद उचट-उचट जाती है।

डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल
जन्म : ४ मार्च १९२७
देहान्त : १९ नवम्बर १९८७

# नाटककार लाल : व्यक्तित्व और कृतित्व

□ डॉ. जयदेव तनेजा

**डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल** एक बहुमुखी बेचैन रचनात्मक प्रतिभा का नाम है। नाटककार, निर्देशक, अभिनेता, अध्यापक, प्रशिक्षक, चिन्तक, समीक्षक, कथाकार, जीवनी लेखक, सम्पादक और रचनाधर्मिता के न मालूम कौन-कौन से रूप और पहलू डॉ. लाल के बहुरंगी-बहुरूपी समृद्ध व्यक्तित्व के भीतर समाहित थे। आपने हिन्दी-लेखक की कुण्ठाग्रस्त, दीन-हीन प्रतिमा को खण्डित करके उसकी गौरव पूर्ण, साहसी और आत्मसम्मान से चमचमाती प्रखर छवि को प्रतिष्ठित किया। आपने अपने उत्प्रेरक व्यक्तित्व से नई रंग-दृष्टि वाले छात्रों-अध्यापकों और रंगकर्मियों की एक पूरी जमात खड़ी कर दी। 'ताजमहल के आँसू' और 'अंधा कुआँ' से लेकर 'बलराम की तीर्थयात्रा' और 'हँसने वाली लड़कियाँ' इत्यादि तक का अध्ययन केवल डॉ. लाल की लम्बी रंग-यात्रा का ही नहीं बल्कि आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच की सम्पूर्ण विकास-यात्रा और उसके महत्त्वपूर्ण पड़ावों, मोड़ों का अध्ययन-विवेचन भी है।

उत्तर प्रदेश के जिला बस्ती के एक छोटे से गाँव जलालपुर में ४ मार्च, १९२७ को शिव सेवक लाल के घर जन्मे बालक 'झकड़ी' (लक्ष्मीनारायण लाल) का बचपन अपने गाँव की 'रामलीला' और 'रासलीला' देखने एवं कुश्ती लड़ने, लाठी चलाने, कबड्डी खेलने, तैरने तथा भैंस चराने में बीता। प्रारम्भिक शिक्षा बस्ती में हुई। १९५० में प्रयाग विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम. ए. और १९५२ में वहीं से 'हिन्दी कहानियों की शिल्प-विधि का विकास' विषय पर डी. फिल. किया। १९५३ में एस. एम. कॉलिज, चंदौसी में अध्यापन किया। १९५६ में कुछ समय तक आपने आकाशवाणी के लखनऊ केन्द्र पर ड्रामा प्रोड्यूसर और इलाहाबाद के सी. एम. पी. कॉलेज में हिन्दी विभागाध्यक्ष के रूप में भी कार्य किया। आप पर **शम्भु मित्रा** के 'रक्तकरबी' (बाङ्ला) और **इब्राहिम अल्काजी** के 'इडिपस रैक्स' (अंग्रेजी) का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। हिन्दी में नई रंग-चेतना जगाने के लिए आपने जनवरी, १९५८ में इलाहाबाद में 'नाट्यकेन्द्र' (स्कूल ऑफ ड्रैमेटिक आर्ट) की स्थापना की। इसकी भूमिका और महत्ता का मूल्यांकन करते हुए डॉ. लाल मानते हैं कि, "हिन्दी के नाट्य-लेखन, प्रदर्शन से लेकर संस्कृत, पाश्चात्य नाटकों के हिन्दी अनुवादों के वैज्ञानिक प्रस्तुतीकरणों ने हिन्दी क्षेत्र में रंगमंच के प्रति गहरी कलात्मक, वैज्ञानिक दृष्टि दी। इसी केन्द्र से **डॉ. सत्यव्रत सिन्हा, जीवन लाल गुप्त** और **विकल कुमार** जैसे निर्देशक और अभिनेता प्राप्त हुए।" १९६५ में डॉ. लाल ने बुखारेस्ट में हुए एक अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच समारोह में भारत का प्रतिनिधित्व किया। वहाँ से लौटते ही आप दिल्ली विश्वविद्यालय के खालसा कॉलिज से सम्बद्ध

हो गए। ४ मार्च, १९६७ को दिल्ली में आपने 'सम्वाद' नामक नाट्य-संस्था की स्थापना की, जिसने 'उत्तर प्रियदर्शी', 'सुनो जनमेजय', 'कछुआ और खरगोश,' 'मिस्टर अभिमन्यु,' 'कलंकी' और 'व्यक्तिगत' जैसे नाटकों के चर्चित प्रस्तुतीकरण किए। १९७० में आपने दिल्ली विश्वविद्यालय के प्राध्यापक और कुछ समय बाद नेशनल बुक ट्रस्ट ऑफ इंडिया के सम्पादक पद से भी त्याग-पत्र दे दिया। १९७२ से १९ नवम्बर, १९८७ की रात अपनी अंतिम साँस तक आपने निरंतर मुक्त-लेखक (फ्रीलांस राइटर) के कठिन और सतत् संघर्षशील रास्ते पर चलते हुए शान से अपना जीवन बिताया।

डॉ. लाल के जलालपुर से दिल्ली तक बनते टूटते, बिखरते संवरते जटिल व्यक्तित्व की मूल धुरी की ओर इशारा करते हुए **इलाचन्द्र जोशी** ने ठीक ही लिखा था कि, "मुझे लगा कि सभ्य नागरिक बनने का इच्छुक यह लेखक अपने व्यक्तित्व की, देहाती मिट्टी को जी-जान से प्यार करता है। अपने नागरिक बंधुओं के बीच, उसके कारण संकुचित न होकर वह उस पर गर्व का अनुभव करता है। उस देहाती मिट्टी की गर्द, उसके ऊपर लहलहाने वाली मुक्त हरियाली, उसके खेत-खलिहानों से जुड़े हुए धूल-भरे जीवन में बिखरी हुई मस्ती, रसमयता और पंकिलता —इन सभी तत्वों के रंग इस सूट-बूट धारी नाटककार के केवल भीतरी व्यक्तित्व में ही नहीं घुले हुए हैं, वरन् उसके बाहरी व्यक्तित्व की ऊपरी कृत्रिमता में भी छिटके हुए दिखाई दे सकते हैं।" १९६५-६६ से १९८७ तक डॉ. लाल से अपने व्यक्तिगत सम्बन्धों के दौरान मैंने स्वयं भी उनके व्यक्तित्व के इन दोनों रूपों और इनके पारस्परिक द्वन्द्व से उत्पन्न अबूझ-अनपेक्षित व्यवहार के विविध रंगों को देखा-झेला है। स्नेह और उपेक्षा, आत्मीयता और आक्रामकता, स्वीकार और विद्रोह, निश्छल अनौपचारिक सम्बद्धता और सोची-विचारी क्रुद्ध तटस्थता के सीमान्ती अप्रत्याशित आचरण के कारण ही आपका व्यक्तित्व प्रायः रहस्यमय और बहुविध वाद-विवाद का केन्द्र बना रहा है। आपके इस व्यक्तित्व ने ही आपके कृतित्व के सही विश्लेषण एवं मूल्यांकन में काफ़ी अवरोध उत्पन्न किए हैं।

आपकी नाट्य-रचनाओं में आपके व्यक्तित्व के ये तीनों स्तर/धरातल साफ़ तौर से देखे जा सकते हैं। एक, ग्राम्य संस्कारों वाले मन का धरातल, दूसरा, शहरी सभ्यता से अर्जित बुद्धि का धरातल और तीसरा, इन दोनों से ऊपर उठा—सहजस्फूर्त मुक्त लीला-भाव का धरातल। अपने अंतिम दौर के इन नाटकों के बारे में नाटककार की धारणा है कि, "मेरे ये नाटक न आधुनिक हैं और न प्राचीन—ये 'लीला नाटक' हैं। मैंने एक लम्बी यात्रा के बाद ये रहस्य पाया है कि यहाँ का दर्शक एक 'रिलैक्स्ड' प्राणी है।⋯यहाँ का दर्शक मूँगफली खाते हुए, आपस में बतियाते हुए देखना और सुनना चाहता है। वह साथ-साथ 'रिलीफ़' चाहता है। मेरे 'लीला नाटकों' में यही है।"

डॉ. लाल आद्यन्त प्रयोगधर्मी रचनाकार रहे हैं। आपका अनुभव क्षेत्र बहुत विस्तृत और व्यापक था। यही कारण है कि आपने कथ्य, फॉर्म या शिल्प-तकनीक किसी भी दृष्टि से अपने को कभी रिपीट नहीं किया। आपने अपने समय और परिवेश के सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पन्दनों को भी अपने अति सम्वेदनशील भाव-तंत्र पर ग्रहण किया और उन्हें अपनी रचनाओं में अधिकाधिक प्रामाणिक, विश्वसनीय तथा प्रभावशाली रूप-रंग में पेश करने का ईमानदार प्रयत्न किया।

'अंधा कुआँ', 'पंच पुरुष' और 'गंगामाटी' जैसे ग्राम्य परिवेश के नाटकों में आपने भारतीय देहात की मिट्टी एवं मन के भीतर—उसकी जड़ों तक जाकर—उसे जानने, समझने

और समझाने की कोशिश की है तो 'मादा कैक्टस', 'रात रानी', 'करफ्यू' 'सगुन पंछी' और 'व्यक्तिगत' जैसे नाटकों में स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की विडम्बनाओं और आधुनिक नर-नारी के मन की सूक्ष्म परतों को विश्लेषित करने और उनकी रासायनिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं की गहरी जाँच-पड़ताल की है। 'मिस्टर अभिमन्यु' पौराणिक नाम-संदर्भ के उपयोग से आज के व्यक्ति की त्रासदी का रेखांकन करता है। 'सुन्दर रस', 'रक्त कमल', 'तीन आँखों वाली मछली' और 'सूखा सरोवर' जैसे नाटक प्रतीकों के माध्यम से और 'सूर्यमुख', 'कलंकी', 'एक सत्य हरिश्चन्द्र', 'नरसिंह कथा', 'यक्ष प्रश्न', 'राम की लड़ाई' और 'बलराम की तीर्थयात्रा' इत्यादि में अतीत कथा और चरित्रों-प्रसंगों की नई एवं मौलिक व्याख्या के ज़रिए समकालीन व्यक्ति, समाज और सत्ता-व्यवस्था की विसंगतियों एवं विडम्बनाओं को चित्रित करने की कोशिश की गई है। मानव जीवन के अपरिभाषित यथार्थ को आदिम और मौलिक रूप में प्रकट करने के लिए मिथक अत्यन्त शक्तिशाली माध्यम है। डॉ. लाल के अनुसार, "विशेषकर नाटक में जब कोई मिथक आ जाता है तो मिथक की शक्ति इतनी बढ़ती है कि उससे सहज ही इतिहास, वर्तमान तथा भविष्य जैसे प्रकाशित हो उठता है। मिथक पुराबिम्ब बनकर त्रिआयामी हो उठता है; क्योंकि यह प्रत्यक्ष, दृश्यगत जीवन में से अपना रूप पाता है।" यह मिथक आज के व्यक्ति और उसके यथार्थ के बीच के टूटे सम्बन्धों को जोड़ने वाले पुल का काम करता है। सम्भवतः यही कारण है कि हमारे आधुनिक नाटककारों के लगभग सभी महत्त्वपूर्ण नाटक इतिहास-पुराण या मिथकीय कथा-प्रसंगों और चरित्रों पर ही आधारित रहे हैं।

आज से लगभग पन्द्रह-सोलह वर्ष पहले सुप्रसिद्ध नाट्य-निर्देशक इब्राहिम अल्काजी ने हिन्दी नाटककारों को सही और सशक्त 'नाट्य-भाषा' की तलाश में संस्कृतनिष्ठ साहित्यिक भाषा से स्वयं को मुक्त करके समकालीन मुहावरे वाली बोलचाल की भाषा के रचनात्मक उपयोग के साथ-साथ हिन्दी की बोलियों के सार्थक इस्तेमाल करने की राय दी थी। खड़ी बोली की समकालीन जीवंत नाट्य-भाषा की खोज में **मोहन राकेश** के 'आधे-अधूरे' की निर्णायक भूमिका रही। कुछ और नाटककारों ने भी इस दिशा में उल्लेखनीय काम किया। लेकिन जहाँ तक बृज, अवधी और भोजपुरी जैसी बोलियों के अर्थपूर्ण प्रयोग का सवाल है डॉ. लाल सम्भवतः अकेले और पहले नाटककार थे जिन्होंने इस दिशा में पहल की। सफलता-असफलता की नाप-तौल का प्रश्न अलग है।

डॉ. लाल के लिए नाटक जीवन के असम्प्रेषणीय सत्य की मूर्त अभिव्यक्ति है। संभवतः इसीलिए वह जीवन के यथार्थपरक तथ्यात्मक चित्रण के स्थान पर जीवन-सत्य के सूक्ष्म-काव्यात्मक प्रस्तुतीकरण पर बल देते रहे। यही कारण है कि विशुद्ध यथार्थवादी दृष्टि से देखने-परखने पर उनके लगभग सभी नाटक और चरित्र किसी न किसी बिन्दु पर पहुँच कर अविश्वसनीय, अतार्किक और असंगत प्रतीत होने लगते हैं। वह मानते रहे हैं कि, "नाटक कोई कहानी नहीं, उपन्यास नहीं, जो तर्क पर चढ़ा कर देखा जाए।" तर्क सम्मत यथार्थ के इसी भ्रम को तोड़ने के लिए उन्होंने अपने अधिकांश नाटकों में 'नाटक के भीतर नाटक' की परम्परागत विशिष्ट रंग-युक्ति का प्रयोग किया है। डॉ. लाल अपने नाटकों में एक अनुष्ठान जैसा वातावरण निर्मित करते हैं जिसमें सम्मिलित होकर दर्शक भी अपने निजी और गहरे सत्य का साक्षात्कार कर सकता है।

नाटककार लाल ने 'मादा कैक्टस' के समय से ही रंगमंच के संश्लिष्ट-माध्यम को अच्छी

तरह समझ लिया था। वह जान गए थे कि नाटक मात्र शब्द नहीं है। वह मूलतः क्रिया है, दृश्यत्व है और इस क्रिया एवं दृश्यत्व को मूर्त बनाने में सार्थक शब्द के साथ-साथ संगीत, लोकगीत, मिथक, प्रतीक, बिम्ब, नृत्य, काव्य, छायालोक इत्यादि की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। आपके नाटकों में 'जानने' के बजाए 'देखने' की जिज्ञासा प्रमुख है।

इलाहाबाद में अभिमंचित अपने आरम्भिक दौर के ज्यादातर नाटकों को स्वयं ही निर्देशित किया और उनमें प्रमुख भूमिकाएं भी निभाईं। दिल्ली आकर 'सम्वाद' की प्रथम प्रस्तुति 'उत्तर प्रियदर्शी' (अज्ञेय) का निर्देशन आपने ही किया था। 'यवनिका' की ओर से प्रस्तुत 'मादा कैक्टस' के संशोधित रूप का निर्देशन भी आपने किया। 'सम्वाद' के 'व्यक्तिगत' में अभिनय एवं निर्देशन— दोनों का दायित्व स्वयं डॉ. लाल ने संभाला था। **अमिताभ दासगुप्ता** निर्देशित 'ब्रेख्तियन मिरर' के 'गैलीलियो' की प्रमुख भूमिका भी डॉ. लाल ने बड़े आत्मविश्वास से निभाई थी।

अपने नाटककार, निर्देशक और अभिनेता रूप के अंतर को स्पष्ट करते हुए एक बार डॉ. लाल ने एक बातचीत में बताया था कि, "मैं केवल नाटककार हूँ, वही मेरा स्वधर्म है। निर्देशक या अभिनेता जो भी मेरे भीतर या आसपास हैं—उनसे मैं सम्वाद करता हूँ—उसकी जरूरतों, अपेक्षाओं, आकांक्षाओं, सपनों, मर्यादाओं को समझना चाहता हूँ—क्योंकि उसके बिना नाटक लिखा ही नहीं जा सकता।...नाटककार होने का मतलब है सम्पूर्ण-पुरुष होना।" डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के नाटककार रूप की चर्चा उनके नाट्य-चिन्तक एवं समीक्षक रूप की चर्चा के बिना पूरी नहीं हो सकती। यूँ तो 'पारसी हिन्दी रंगमंच', 'नाटक और रंगमंच की भूमिका' तथा 'आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच' भी नाट्यालोचना की दृष्टि से कम महत्त्व-पूर्ण पुस्तकें नहीं हैं। परन्तु 'रंगमंच : देखना और जानना' तो निःसन्देह भारतीय रंगदृष्टि की सार्वकालिकता, मूलगामिता, सनातनता और अखण्डता को रेखांकित करने वाली अत्यन्त मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। इसमें डॉ. लाल ने रंगभूमि, नाटक और नाटककार, प्रस्तुतीकरण और निर्देशक, अभिनय और अभिनेता तथा देखना और जानना जैसे रंगकर्म के बुनियादी को फिर से उठाया है और इनके संदर्भ में भारतीय और तथाकथित आधुनिक पश्चिमी रंग-दृष्टि के अन्तर को गहराई से देखा-दिखाया है। इस लिहाज से डॉ. लाल के कई नाटकों की लम्बी भूमिकाएं तो स्वयं उन नाटकों से भी अधिक सारगर्भित एवं पठनीय हैं।

आपके अनेक नाटक कई विश्वविद्यालयों द्वारा स्नातक एवं स्नातकोत्तर कक्षाओं के पाठ्य-क्रम में लगाए गए हैं। कई के रेडियो और दूरदर्शन पर सफल प्रसारण-प्रदर्शन हुए हैं। और अधिकांश को देश के बहुसंख्य रंगनगरों में प्रमुख संस्थाओं और कल्पनाशील निर्देशकों द्वारा अभिमंचित किया जा चुका है। आपके नाटकों पर प्रकाशित शोध-ग्रंथों तथा स्वतंत्र आलोचना पुस्तकों की भी कमी नहीं है।

**नेमिचंद्र जैन** जैसे वरिष्ठ नाट्य-समीक्षक ने 'रातरानी' को 'हिन्दी में आधुनिक नाट्य-लेखन के प्रारम्भ का सूचक' माना है। विविध राजकीय पुरस्कारों के अतिरिक्त आपने दिल्ली की साहित्य कला परिषद्, हिन्दी अकादमी तथा केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी के पुरस्कार एवं सम्मान भी प्राप्त किए।

परन्तु डॉ. लाल के नाटकों की सीमाएं और कमियां भी कम नहीं हैं। आपके पास कथा-बीज और नाट्योपयुक्त प्रसंगों, विचारों और उत्तेजक चरित्रों का अथाह भंडार है। लेकिन

रचनात्मक स्तर पर एक तरह की बेसब्री के कारण वह उसे सर्वांगपूर्ण नाट्यालेख में नहीं बदल पाते। कभी संरचना शिथिल हो जाती है तो कभी चरित्र का विकास; कहीं भाषा की अराजकता आड़े आ जाती है तो कहीं सम्वादों की अनगढ़ता; एक जगह विचारों का उलझाव है तो दूसरी जगह उद्देश्य की अस्पष्टता--कुल मिलाकर आपके नाटक अंशों में जितने प्रभावशाली और उत्तेजक लगते हैं, अपने समग्र प्रभाव में वैसे प्रतीत नहीं होते। अपने नाटकों को कुछ वर्षों के अन्तराल से जिस प्रकार नए संस्करणों में बार-बार काफी बदल-बदल कर प्रस्तुत किया है, वह भी कई तरह की उलझनें पैदा करते हैं। इस संदर्भ में यह तय करना अक्सर मुश्किल लगता है कि इन संशोधनों/परिवर्तनों के पीछे सचमुच कोई रचनात्मक ज़रूरत काम कर रही है या महज़ व्यावसायिक आवश्यकता के कारण ही ऐसा किया गया है।

फिर भी, इसमें कोई संदेह नहीं कि आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगान्दोलन के संदर्भ में डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल का योगदान कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उनके वैविध्यपूर्ण बहुसंख्य नाटकों के अध्ययन के माध्यम से समकालीन हिन्दी नाटक और उसकी प्रवृत्तियों का सम्पूर्ण एवं प्रामाणिक इतिहास लिखा जा सकता है। डॉ. लाल का आकस्मिक निधन हमें एक बड़े रचनाकार और उत्प्रेरक व्यक्तित्व से रहित करके बेहद निर्धन बना गया है।

# राष्ट्र भाषा : एक चिन्तन-यात्रा

☐ डॉ. गोपाल शर्मा

**भाषा** के विषय में जितनी दृष्टियों और अपेक्षाओं से विचार किया गया है उसे उतने ही नाम दिये गये हैं। रूप के आधार पर उसे भाषा, प्रयुक्ति, क्रिओल पिजिन, व्यवहार क्षेत्र की दृष्टि से राष्ट्र भाषा, प्रादेशिक भाषा आंचलिक और जनपदीय बोलियां, संस्कार की दृष्टि से मानक भाषा, वक्ता की जन्म से या परिवार से प्राप्त मातृभाषा, देश या राष्ट्र में प्रशासन के प्रयोजन के लिए राजभाषा और जब राष्ट्र या राज्य संघ माना जाये तो सम्पर्क भाषा, शिक्षा में प्रथम द्वितीय भाषा जैसे अनेक नाम दिये गये हैं।

## राष्ट्र-शब्द की विविध संकल्पनाएं

इन विविध नामों की व्याख्या में न उलझकर जब हम भाषा की राजनैतिक और सांस्कृतिक सार्थकता पर विचार करते हैं तो हमारे समक्ष प्रधानतः तीन संकल्पनाएं आती हैं। वे हैं क्षेत्र, जनसमाज एवं जन आकांक्षा की। राष्ट्र शब्द का प्रयोग आज हम जिस अर्थ में सम्पूर्ण भारत के लिए करते हैं उससे कई भिन्न अर्थों में उसका प्रयोग हमारे इतिहास के विभिन्न कालों में किया जाता रहा है। इसी तरह जिस अर्थ में संविधान में राज्य शब्द का प्रयोग किया गया है उसे नव अर्थाधान ही समझना चाहिए। प्राचीनकाल में पल्लव, वाकाटक, गहड़वाल आदि छोटे राज्यों के अनुसार उन्हें राष्ट्र या विषय कहा जाता था। राष्ट्रकूट शासन में राष्ट्र शब्द एक कमिश्नरी का बोधक था। एपीग्रापिका इंडिका के अनुसार दक्षिण में पल्लव, कंदब आदि राज्यों में राष्ट्र का अर्थ तहसील या अधिक से अधिक जिला होता था। शुक्रनीति में राष्ट्र की परिभाषा है—

यस्याधीनं भवेद्यावत् तद्राष्टं तस्य वै भवेत्

जो कुछ किसी राजा के अधीन होता है वह राष्ट्र कहलाता है। मनुस्मृति में राष्ट्र एक राज्य का अंग माना गया है। राज्य का अर्थ भावकर्म परक संगठित व्यवस्था रहा है। (राज्ञो भावः कर्मवा) इस शब्द का भी अनेक अर्थों में प्रयोग होता रहा है। भाव जब प्रधान हुआ तब इससे अधिकार क्षेत्र और कर्म जब प्रधान हुआ तब प्रशासन का द्योतक होने लगा। तब हमारी भाषा में राष्ट्र या राज्य का आधुनिक अर्थ कैसे स्थिर हुआ ? इनके राजनैतिक अर्थ क्या यूरोपीय चिन्तन परम्परा की देन है। भारतीय परम्परा में राष्ट्र की बदलती हुई धारणा होते हुए भी एक सर्वमान्य अर्थ रहा है 'अहं राष्ट्री संगमनी वसूनाम्' मंत्र से यह स्पष्ट है कि एकात्म्य की

साधना या स्थापना करने वाली कोई सत्ता (यहाँ भाषा) राष्ट्र की संगठन शक्ति होती है। अतीत से आज तक लोक जीवन, भौगोलिक क्षेत्र, विभिन्न नस्लों (आस्ट्रिक, मंगोल, आर्य, द्रविड़, कुशाण, शक, हूण आदि) के एकीकरण में जो सांस्कृतिक शक्ति काम करती रही है उसी ने राष्ट्र की भारतीय अवधारणा स्थिर की है। प्राचीनकाल में उत्तर और मध्य भारत को अर्यावर्त कहा गया है। अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि समन्वित मूल्य-संघात आर्यत्व का द्योतक है न कि नस्ल या जाति का। भारत के अतीत में अनेक जनपद, राज्य आदि रहे हैं। अनेक धर्मों का विकास और प्रचार हुआ है। वे सम्प्रदायों और पंथों में विश्लिष्ट हुए हैं किन्तु हिमालय से समुद्र तक लोगों ने इस भौगोलिक रूप से विस्तृत, जीवन की विविधताओं वाले समुदाय को राष्ट्र ही माना है। यह राज्यातीत सांस्कृतिक संकल्पना, वेद, पुराण, इतिहास, साहित्य, शास्त्र आदि द्वारा निरंतर व्यक्त और पुष्ट की गई है। 'समानी वा आकूतिः समाना हृदयानि वः','संगच्छध्वं संवदध्वं', आदि मंत्र तो इसके प्रमाण हैं ही, परवर्ती काल में भी विभिन्न क्षेत्रों के साहित्यकार हिमालय, नदियों, तीर्थों[1] आदि के प्रति अपनी भाव-भक्ति व्यक्त कर इस भौगोलिक खण्ड के जन सांस्कृतिक मनोभाव को बल प्रदान करते रहे हैं। उच्च स्तरों पर संस्कृत वाङ्मय ने तथा जनसामान्य के स्तरों पर सन्तों की भाषा ने इस मनोभाव को पुष्ट किया है।

## मुगलकाल में राष्ट्र भावना

एलैक्जेंडर के समय में उत्तर भारत में अनेक राजा थे, परन्तु परस्पर संघर्षों के बावजूद आम जनता में एक समन्वित और सहजीवनपरक वृत्ति घर किए हुई थी। केवल राजसत्ता के संघर्ष और दांवपेंच उन्हें विभक्त करते थे। भाषिक झुकावों (बौद्ध और जैन) के बावजूद जनमानस में समस्त भारत के सन्दर्भ में राष्ट्र की सांस्कृतिक भावना में कोई उल्लेखनीय बदलाव नहीं दिखाई देता। राजनैतिक स्तर पर भले ही लोग अपने क्षेत्र, भाषा और वीरों के प्रति अभिमान व्यक्त करते रहे हों यूनानी सेना के जो भी अंश भारत में रहे वे भारतीय जीवन पद्धति में रचपच गये उसी तरह शक, हूण, किरात और अन्य जातियाँ भारतीय जीवन परम्परा और उसकी समन्वित संस्कृति में एकाकार हो गये। कालान्तर में उन्हें पहचानना कठिन हो गया इसी तरह का लय, शक, कुशाण, किरात आदि का हुआ। जब तुर्क और मुगल भारत में आये उन्होंने राज्य स्थापित किये और यहीं बस गये। नई संस्कृति और नये धर्म के लोग थे, किन्तु उनके चिन्तकों और साहित्यकारों में देश के प्रति तादात्म्य उत्पन्न हो गया। **अमीर खुसरो** ने बिना हिचक कहा—

हिन्द मेरा मौलिद-आ मादा-आ वतन
(हिन्द मेरी जन्मभूमि, मेरी माता और मेरा देश है)

उन्होंने भारतीय बहुप्रचलित भाषा में लिखा। दक्कन में भी हिन्दी का रूप विकसित करने में मुसलमानों का बहुत योगदान रहा। यद्यपि उस समय उसे 'भाषा' कहा जाता था बहरानुद्दीन

१. नदी—गंगा सिन्धु सरस्वती च यमुना, गोदावरी नर्मदा।
कावेरी सरयू महेन्द्र तनया''।।
तीर्थ—'''काशी कांची अवन्तिका
पुरी, द्वारावती चैव'''

जानम (१५६०) ने अपनी भाषा को 'हिन्दी' ही कहा इस समुदाय का हिन्दी व्यवहार दो रूपों में सामने आया।

**प्रेम**—यह सब बोलूँ हिन्दी बोल,
पन तू अनुभौ सेती खोल
एब न राखैं हिन्दी बोल
मानो तो चख देखे खोल
हिन्दी बोली किया बखान
जिसके प्रसाद था गुजै ज्ञान।

(हिन्दी के मुसलिम साहित्यकार : पांचाल)

## वास्तविकता से सामंजस्य

मसहफ़ी फ़ारसी को ताक़ पे रख
अब है अशआर हिन्दवी का रवाज।

(राष्ट्र भाषा : चन्द्रबली पाण्डेय)

"इब्राहीम आदिल ने फ़ारसी जबान को दफ्तर से खारिज करके हिन्दी उसकी जगह रायज की।" तात्पर्य यह है कि मुस्लिम मानस में न केवल यथार्थ से सामंज्य की प्रेरणा जागी बल्कि राष्ट्रीय समाज के साथ एकात्मय स्थापित करने के लिए उन्होंने प्रत्यक्ष प्रमाण का रास्ता अपनाया। परवर्ती काल में मुस्लिम साहित्यकारों ने (रहीम, रसखान, नजीर अकबरावादी, मीर आलम मीर और कितने ही) जो लिखा जिस भाषा में लिखा वह तत्कालीन जनसमुदाय की बहुप्रचलित (हिन्दी) भाषा में लिखा। सूफी सन्तों ने बादशाहों के कुटम्बी जनों तक ने हिन्दी के महत्व को समझा, उसके प्रयोग को प्रोत्सांहित किया और स्वयं रचनाएं की। सबसे बड़ी बात है हिन्दी के रूप निखारने की। उसका व्याकरण स्थिर करने में मुसलमानों का हाथ रहा। स्वर्गीय **दिनकर जी** की मान्यता थी कि खड़ी बोली को साहित्य रचना के योग्य बनाने में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा।

अब यह सोचना कि समस्त भारत के जनसमाज में तत्कालीन हिन्दी का व्यवहार होता होगा, ठीक नहीं है। इस विषय में सीमाएँ या प्रतिशत बता सकना सम्भव नहीं, हाँ, सामुदायिक राजनीति जरूर उनकी सहज भाषाओं को आतंकित करती थी।[१] इस लेख में सम्पर्क और

१. मुसलमानों की मातृ और व्यवहार भाषा उनके जन सांस्कृतिक परिवेश की ही थी। ख्यालाते अज़ीज में तत्कालीन निज़ाम के डिप्टी कमिश्नर मौलवी मोहम्मद अज़ीज मिर्जा साहब लिखते हैं—

"मेरा गुजर एक बहुत ही छोटे गाँव में हुआ। वहाँ असामियों को तलब करके उनके हालात दर्याफ़्त किये गये तो एक मुसलमान भी लंगोट बाँधे आया और उसने अपना नाम असवन्त खां बताया। मैंने उससे उर्दू में गुफ़्तगू करनी चाही। मगर जब वह अच्छी तरह न समझ सका तो मरहठी में बातचीत की जिसमें वह खूब फर्राटे उड़ाता था। यह देखकर मैंने उससे पूछा कि आया वह अपने घर में भी मरहठी बोला करता है। यह सुनते ही उसका चेहरा सुर्ख हो गया और कहने लगा— "साहब मैं मरहठी क्यों बोलने लगा। क्या मैं मुसलमान नहीं ?" (राष्ट्रभाषा : चन्द्रबली पाण्डेय पृष्ठ-५५)

सहजीवन की आकांक्षा के सत्तात्मक राजनीति से अतीत भाषिक प्रतिफलन की चर्चा की जा रही है। सौराष्ट्र, महाराष्ट्र आदि शब्दों से 'राष्ट्र' के तत्कालीन अर्थों की ही निष्पत्ति होती है। जन-जन का राष्ट्र भाव उसी विस्तृत बिम्ब में निहित था जिसका विस्तार हिमालय से समुद्र तक है। मुगलों से संघर्ष के दौरान यद्यपि वह शिवाजी या राणा प्रताप में प्रतिबिम्बित होता रहा हो परन्तु वह भाषा में शब्दद्रोह या बहिष्कार का अभियान नहीं बना था। भूषण के काव्य को पढ़कर यह तर्क सही प्रतीत होता है—

**कढ़ि गई 'रैयत' के मन की कसक सब**
**मिटि गई ठसक 'तमाम' तुरकाने की**
**भूषण भनत दिल्ली पति दिल धकधक**
**सुनि सुनि धाक सिवराज 'मरदाने' की।**

इसके अतिरिक्त भूषण ने कतलाम, दहसति, हबस, जहान आदि शब्दों का प्रयोग मात्र छंद-साधने या अनुप्रास का लालित्य उत्पन्न करने को नहीं किया होगा। रीतिकाल के साहित्य में किसी तरह के आग्रह नहीं मिलते। शासन में भी हिन्दी तत्कालीन ऐतिहासिक-भाषिक विरासत के ही रूप प्रचलित रहे। छत्रपति शिवाजी ने रघुनाथ पंडित से संस्कृत मूलक कोश बनवाया था परन्तु मराठी में फ़ारसी, उर्दू का जिन रूपों और मात्रा में सम्मिश्रण हो चुका था वह आज तक कायम है। इसी तरह मेवाड़ राजस्थान की तथा अन्य भूतपूर्व रियासतों की भाषा में वही सम्मिश्रण विद्यमान रहा। दक्षिण की तेलुगू, कन्नड़ में भी मुगल कालीन भाषा का मिश्रण है। इस बात को अनेक शोधकार्यों और प्रकाशनों में दर्शाया गया है।

## अंग्रेजों के शासन काल में

अभी तक यथासम्भव राष्ट्रभाषा को राजभाषा से पृथक रखने की कोशिश की गई है। उसे विशाल भूखण्ड में सहजीवन की संस्कृति मूलक अनिवार्यता माना गया है। किन्तु मुगल काल से ही यह स्पष्ट होने लगा था कि राष्ट्रभाषा और राजभाषा की विभाजक रेखा मिटती जा रही है। अंग्रेजों के आने के समय हिन्दी/उर्दू की बहस जोर पर थी यह ईस्ट इंडिया कम्पनी के साम्राज्य में परिणत होने तक चलती रही। सम्राट अकबर के मंत्री राजा टोडरमल ने शासन में देश भाषा को दबा कर केवल फ़ारसी की ही प्रतिष्ठा की थी। अंग्रेजों के शासनकाल में हिन्दी और उर्दू के बीच एक संघर्ष की स्थिति आ गई। अब वह शक्ति स्थापित करने के द्वंद्व में फंस गई, और इस बीच अंग्रेज अपनी चाल चलने लगे। राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द हिन्दी और नागरी के पक्षपाती थे परन्तु उनकी भाषा अधिकांश उर्दू नुमा थी। उसे हिन्दुस्तानी कहा गया था। हिन्दी के इस रूप को वे अपने अभियान की सीढ़ी मानते थे। कुछ अंग्रेजों ने उन और हिन्दी प्रेमी समुदाय के बीच दरार डालने की भरसक कोशिश की। परन्तु फ्रेडरिक पिन्काट एक ऐसे विद्वान थे जिन्होंने सद्भावना से इस प्रश्न पर विचार किया। एक जनवरी १८८४ को **भारतेन्दु हरिश्चन्द्र** को लिखे गये एक पत्र में उन्होंने हिन्दी को अरबी, फ़ारसी शब्दों से भरने के सम्बन्ध में अपनी राय इन शब्दों में जाहिर की— 'खेद की बात है कि आपका सारा प्रयत्न शिक्षा प्रचार करने के निमित्त अब तक सफल न हुआ। और भारी खेद की बात है कि किसी स्वदेशी पुरुष से आपका हितकारी उद्योग व्यर्थ हो गया। राजा शिवप्रसाद पड़ा चतुर है। २० बरस हुए उसने सोचा कि अंग्रेजी साहबों को कैसी-कैसी बातें अच्छी लगती हैं। उन बातों का

प्रचलित करना चतुर लोगों का परम धर्म है। इसलिए बड़े चाव से उसने काव्य और अपने हिन्दी भाषा को भी बिना लाज, छोड़कर उर्दू को प्रचलित करने में बहुत योग दिया। इसके उपरान्त उसने देखा कि हिन्दी भाषा साल पर साल पूज्य होती जाती थी तब उसने उर्दू और हिन्दी को परस्पर मिलाने का उद्योग किया। बहुतेरे अंग्रेज लोग जानते थे कि उन दो भाषाओं का मिश्रण होना सबसे श्रेष्ठ बात होगा। क्योंकि वैसी संयुक्तता से सारे हिन्दुस्तान के लिए एक ही भाषा निकलेगा। मेरी समझ में वैसा बोध मूर्खता की बात है।"

(नागरी प्रचारिणी सभा काशी संवत् २००१, च. ब. पाण्डेय)

पं. रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार पिन्काट का स्मरण हिन्दी प्रेमियों को सदा बनाए रखना चाहिए परन्तु वे पिन्काट की राजा शिवप्रसाद के प्रति धारणा से सहमत नहीं थे। और उनकी सदाशयता पर सन्देह नहीं करते थे। इस समय तक भारत में राजनैतिक शक्ति के लालच में पहले की समन्वित आकांक्षा विभाजित हो चुकी थी। जिसका यह परिणाम हुआ था कि हिन्दी और अंग्रेजों से समर्थन प्राप्त उर्दू, अपने सहज अधिकार से बंचित होने लगी थी और लार्ड मेकाले की शिक्षा व्यवस्था के परिणामस्वरूप आधुनिकीकरण के नाम पर अंग्रेजी के विविध क्षेत्रीय विस्तार में दबती चली गई किन्तु इस बात को नकारा नहीं जा सकता कि फ़ारसी/उर्दू की शासकीय और कला शिल्प आदि की शब्दावली न केवल हिन्दी बल्कि भारत की अन्य भाषाओं का भी अंग बन गई। (देखिए केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय द्वारा प्रकाशित भारतीय भाषा कोश) 'कांग्रेस' में कार्यभाषा संबंधी चर्चा में अंग्रेजी-हिन्दी के प्रयोग के संबंध में बहसें हुई। उस दौरान भी राष्ट्र भाषा को सर्वाधिक प्रयोग की भाषा के रूप में प्रस्तावित किया गया और नेता गणों ने निर्विवाद रूप से हिन्दी को ही स्वीकार किया[१], परन्तु व्यवहार में अधिकांश अंग्रेजी का ही बोलबाला रहा। **लोकमान्य तिलक, महामना मालवीय** जी न केवल हिन्दी के पक्षपाती थे बल्कि निरन्तर उसे उचित स्थान दिलाने के लिए सक्रिय भी रहे स्वर्गीय **श्रीप्रकाशजी** ने अपने 'देश और भाषा' शीर्षक लेख में (गाँधी हिन्दी दर्शन) तत्कालीन स्थिति को इस प्रकार निरूपित किया—

**अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग अंग्रेजी में परस्पर विचार विनिमय करने लगे और उन पर सब ने सारे देश की आंतरिक वास्तविक एकता को अनुभव किया…बहुत दिनों तक इस प्रकार की (जैसी शासक देश में है) राजनैतिक उन्नति की आकांक्षा अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों तक सीमित रही……ऐसे समय महात्मा गाँधी का हमारे बीच उदय हुआ। उन्होंने कहा—"अपनी-अपनी बोली बोलो, अपनी-अपनी भाषा में स्वराज्य का सन्देश सब जगह फैलाओ।"**

यह महात्मा गाँधी जी का स्वराज्य की आकांक्षा के साथ स्वभाषा के अभियान का श्री गणेश था। सन् १९३५ में इन्दौर में हुए अखिल भारतीय हिन्दी सम्मेलन में उन्होंने अपनी निश्चित धारणा को व्यक्त किया।

**'हिन्दुस्तान को सचमुच एक राष्ट्र बनाना है तो चाहे कोई माने या न माने राष्ट्र भाषा तो हिन्दी ही बन सकती है। क्योंकि जो स्थान हिन्दी को प्राप्त है वह किसी दूसरी भाषा को भी नहीं मिल सकता।'**

इसके उपरान्त गाँधी जी ने दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की स्थापना के लिए नव-

---

१. १९३८ में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति का प्रस्ताव।

युवकों को आमंत्रित किया और अपने पुत्र देवदास गाँधी को संस्था संगठित करने का भार सौंपा। इस प्रकार सहज रूप से, स्वेच्छा और स्वाध्याय से ऐतिहासिक प्रतिक्रिया द्वारा जो भाषा राष्ट्रभाषा बन चुकी थी उसमें अब प्रयत्न का आयाम जुड़ गया। वह आवश्यक भी था क्योंकि अंग्रेजी का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। दो महायुद्धों ने, यूरोप में वैज्ञानिक नवयुग ने और वहाँ के साहित्य और दर्शनों ने भारतीय शिक्षित स्तरों को ऐसा अभिभूत करना शुरू कर दिया था। अखिल भारतीय स्तर पर अंग्रेजी ही उस वर्ग के लिए अनिवार्य और प्रगतिसाधक बनती जा रही थी। इस दौरान जब मुस्लिम वर्ग को स्वराज्य संघर्ष में साथ रखने के लिए गाँधी जी ने हिन्दी को 'हिन्दुस्तानी' रूप में प्रचलित करने का प्रयत्न किया और नागरी और फ़ारसी दो लिपियों को सीखने की सलाह दी तो एक बार फिर उर्दू हिन्दी का प्रारम्भिक विवाद उठ खड़ा हुआ। हिन्दी की प्रतिद्वंदिता में अंग्रेजी के साथ-साथ अब हिन्दुस्तानी भी आ गयी। परन्तु अधिकांश भारतीय भाषाओं की समानस्रोत भाषा संस्कृत होने के कारण हिन्दुस्तानी अपने कल्पित रूप में उभर नहीं पायी और हिन्दी मुगलकालीन फ़ारसी/उर्दू की विरासत को मुहावरों और शब्दों के रूप में आत्मसात किये हुए विकास के लिए प्रधानतः संस्कृत की ओर ही झुक गयी। वहाँ उर्दू अपने विकास के लिए फ़ारसी पर आश्रित हो गयी।

## आज़ाद होने पर

स्वतंत्रता मिली। पाकिस्तान बना। संविधान द्वारा भारत गणराज्य घोषित किया गया। उसमें संघ/केन्द्र और राज्यों की व्यवस्था की गई। और सन् १९५५ में भाषावार राज्यों का निर्माण हुआ।

संविधान में हिन्दी को केन्द्र या संघ की राजभाषा का दर्जा दिया गया।[1]

अब 'राष्ट्रभाषा शब्द का प्रयोग होने लगा। संविधान की अष्टम अनुसूची में उल्लिखित भाषाओं को भी लोग राष्ट्रभाषाएँ कहने का आग्रह करने लगे। राज्यों की भाषाएँ राज भाषाएँ भी बन गयीं। इन परिस्थितियों में अनेक आयोगों और योजनाओं द्वारा केन्द्र ने हिन्दी के विविध प्रयुक्ति रूपों और प्रशासन, विधि तथा ज्ञान-विज्ञान की शब्दावली विकसित करते हुए ग्रंथ निर्माण को प्रोत्साहन दिया। साथ ही राज्यों को आर्थिक सहायता दी ताकि वे अपनी भाषाओं को राज-काज और शिक्षा के माध्यम बनाने में आनेवाली बाधाओं को दूर कर सकें। सिन्धी और उर्दू के विकास की व्यवस्था भारत सरकार ने अपने हाथ में ही रखी। इसके बावजूद अंग्रेजी की स्थिति पूर्ववत ही रही। बल्कि दिनोदिन मजबूत हो रही है। अब इने-गिने पूर्व परम्परा के लोग ही 'राष्ट्र-भाषा' शब्द को व्यवहार में लाते हैं।

आरम्भ में ही कहा जा चुका है कि आज राष्ट्र शब्द के पुराने अर्थ का विस्तार (नेशन-स्टेट के रूप में) तो हो चुका है परन्तु कुछ भाषा समुदाय राष्ट्रभाषा को अनन्य मूल्य की दृष्टि से

---

1. संविधान की भाषा पर मौलाना आजाद के विचारों, डॉ. रघुवीर की हिन्दी संबंधी धारणाओं और बाबू राजेन्द्र प्रसाद के महत्त्वपूर्ण योगदान पर मैंने विस्तार से अन्य लेखों में चर्चा की है। पं. नेहरू के विचारों का भी विवेचन किया है। अतएव स्थानाभाव से इस अवधि का अधिक उल्लेख नहीं किया है। संविधान का हिन्दी अनुवाद संसद में अभी-अभी प्रामणिक बनाया है।

नहीं देखते। इसका प्रधान कारण उच्च स्तर के समाज में दिनोदिन बढ़ता हुआ अंग्रेजी का प्रभाव है। एक तो भारत की तकनीकी प्रगति और ज्ञान-विज्ञान के विकास में अंग्रेजी का बड़ा हाथ रहा है। दूसरे जापान, इंग्लैण्ड, अमेरीका, फ्रांस, जर्मनी जैसे एक भाषिक राष्ट्रों की तरह हम सब एक भाषिक नहीं हैं। भाषिक विविधता में आज हिन्दी के प्रति आस्था का भाव उतना तीव्र नहीं है। जितना कि बीसवीं शताब्दी के पूर्व और बाद के संघर्ष-काल में रहा। हिन्दी ही क्या राज्य की प्रादेशिक भाषाएँ भी कोई स्पृहणीय स्थिति में नहीं हैं। अनेक संस्थाएँ और अकादमियाँ भाषाओं के संवर्धन के प्रयत्न में लगी हैं परन्तु अंग्रेजी में प्राप्त होने वाले विविध विषयक अद्यतन साहित्य की तुलना में उनकी योजनाओं तथा निजी प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित सामग्री नगण्य है। पढ़े-लिखे लोग जो कि भारत के विभिन्न क्षेत्रों में उच्च और मध्य स्तरों पर कार्यरत हैं, अंग्रेजी में प्राप्त ग्रंथों को जितने चाव और विश्वास से पढ़ते हैं उतनी रुचि से अपनी भाषा के ज्ञान-विज्ञान के साहित्य में नहीं दिखाते। न उस तरह का साहित्य अपनी भाषाओं में प्रस्तुत करने में युद्ध स्तर पर सक्रिय हैं। आज तो कुछ लोग अंग्रेजी को भी भारतीय भाषाओं की अनुसूची में स्थान देने का आग्रह करने लगे हैं। ऐसा आग्रह जब स्वर्गीय पं. जवाहरलाल के सामने रखा गया था तो संविधान सभा में अपने भाषण में उन्होंने कहा था—"कुछ लोगों ने चालाकी से यह पेशकश की है कि अंग्रेजी को भी अष्टम अनुसूची में शामिल किया जाय। यह सरासर बहुत ग़लत काम होगा। हालाँकि कुछ हिंदुस्तानियों ने जैसे कि एंग्लो इंडियन जमात ने उसे सीखकर मातृभाषा की तरह अपना रखा है। यही काफी होना चाहिए कि हमने अंग्रेजी या कोई आधुनिक यूरोपीय भाषा पढ़ने की जरूरत को स्वीकार किया है। इसलिए अंग्रेजी को भारतीय भाषा के रूप में अनुसूची में शामिल करना बेतुका और अनुचित होगा। अंग्रेजी को शामिल करने की इस पेशकश का मतलब उसकी जगह पर भारत की राष्ट्र-भाषा लाने के बुनियादी सिद्धान्त से कतरा जाना होगा। यह पूरी तौर पर संविधान की रूह और विषय वस्तु तथा हमारी जनता की पिछली अर्धशताब्दी इतिहास के खिलाफ़ होगा।

(अनुवाद)

हिन्दी नवजीवन(५-७-१६२८) में तो राष्ट्रपिता ने शिक्षा के विदेशी माध्यम की भर्तस्ना करते हुए कहा था—"अगर यह प्रक्रिया अब भी जारी रही तो जान पड़ता है कि वह राष्ट्र की आत्मा को नष्ट कर देगी।" राष्ट्र की आत्मा का निर्विवाद बिम्ब किसकी कल्पना में है? "कस्मै देवाय हविषा विधेम?" की स्थिति है। यह प्रश्न बार-बार मन में उठता है कि पश्चिमी इतिहास की परिस्थिति में विकसित जनतन्त्र क्या भूतपूर्व उपनिवेशों से बने नवराष्ट्र को, विकास की हड़बड़ी में, संघर्ष के दौरान लिए गये अपने निर्णय, परिस्थितियों से समझौतों के हवाले करने पर मजबूर करेगा? क्या वे हमारी भाषा में सिर्फ़ प्रसाधन के रूप में इस्तेमाल किये जाते रहेंगे। व्यक्तिगत और वर्ग-स्वतंत्रता के नाम पर तरह-तरह के आग्रह जुझारू बनते जा रहे हैं और दरारें फट ही नहीं रहीं मुँह फाड़ रही हैं। भारतीय मानस परिणामवादी दर्शन का शिकार होता जा रहा है। अंग्रेजी हर नवराष्ट्र में राष्ट्र और एक 'राष्ट्र भाषा' की धारणा को कमजोर करती जा रही है।

☐ जगदीश गुप्त

# कविता की दीपशिखा

भीतर से—
निरन्तर, अजस्र,
आलोक देने वाली
कविता की दीपशिखा
अन्ततः
आँसुओं के पारावार में
डूब ही तो गयी।

उनकी सूखी हुई आँखें
खुल नहीं सकीं
अपने चारों ओर
गहराती हुई उदासी के
कुहासे भरे आवरण में
अपनी पहचान खोते हुए
आत्मीय चेहरों को—
एकटक देखने के लिए
वह मन ही मन
छटपटाती रहीं।

अर्द्ध-चेतना
धीरे-धीरे

शिराओं में
हिम-दंश भरती रही,
शिव के अट्ठहास-सा
वह श्वेतल हिमालय
जो उनकी चितेरी कल्पना को
हरी-कचोह घाटियों के पार ले जाकर
ताकुला और रामगढ़ की छायामयी
सजीव खिड़कियों से
बार बार झाँक कर
प्रदीप्त करता रहा।

अन्ततः उनका पार्थिव शरीर
चिता की अर्चियों के बीच
देखते देखते
राख हो गया।

बर्फ़ की तरह ठंडे उदास अँधेरे में
कहीं से धीमी आवाज़ आयी
'एक ज्वाला के बिना,
मैं राख का घर हूँ।'

अपनी ही आवाज़ को सुनकर
उनकी वही सूजी हुई आँखें
मुँदे-मुँदे भी
लगातार कह रही थी
ओ मेरे मन के रहस्य सुनो !
'तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा
तुममें ढूँढूंगी पीड़ा'

धीरे-धीरे उन्हें अपने भीतर अनुभव होने लगा था—
'शेष यामा यामिनी
मेरा निकट निर्वाण'

और तुम्हारी साँसों ने
शिथिल होते हुए भी
संवेदना को छूकर देख लिया—

वह दृश्य
जो तुम्हें
इन पंक्तियों की रचना तक ले गया।
तोड़ दो यह क्षितिज
मैं भी देख लूं उस ओर क्या है ?
जा रहे जिस पंथ से युग-कल्प
उसका छोर क्या है ?

तुम्हारे प्राणों ने
उससे भी ज्यादा
विकलता अनुभव की होगी,
क्योंकि
अजस्र बहने वाली नदी जैसी
तुम्हारी वाणी
अपने आप अवरुद्ध हो चुकी थी।
सरस्वती की उपासिका
हंस-हीन होकर स्वयं मूक हो जाय
इस विडम्बना को
वही जानेगा
जिसने कविता को
शब्दों के जाल में
अर्थहीन होते हुए देखा हो।

वही समझ सकेगा यह बात
कि तुमने कब, क्यों और कैसे लिखा—
'बीन भी हूँ मैं
तुम्हारी रागिनी भी हूँ।'

माध्यम से अभेद
ऐसे नहीं उपजता रचनाकार के मन में
आलोकमय इन्द्रधनुषी तूलिका लेकर
प्रेरणा के पारिजाती पँखों पर
तुम्हारी दीपशिखा ही
मुझे दीप-शृंखला तक ले गयी
पर तुम्हारी दोहरी कल्पना में
स्नेह-दीप के साथ

मोम-दीप भी समाहित था
जबकि मेरी रंग-रेखाओं में
इकहरा स्नेह-दीप ही रूपायित हो सका।
यों तुम्हारे भीतर भी
अन्तत. स्नेह-दीप को ही वरीयता मिली
'शलभ मैं शपमय वर हूँ
किसी का दीप निष्ठुर हूँ'
कह कर भी
भवान्तर के साथ
'मधुर-मधुर मेरे दीपक जल'
के आग्रह में परिणत हो गया।

'साँझ का दूत'
किसी आघात से तत्काल बुझने की जगह
निस्पंद होकर, प्रभाती तक जलने की आकाँक्षा
अनुभव के विस्तार में,
वह चौराहे का दीप ही नहीं रहा
मंदिर का दीप भी बन गया।
'देव मंदिर कुटीर चौराहा
हो जहाँ अन्ध तम इसे धर दो।'
तुम्हारे भीतर एक अदम्य विश्वास था
अपने रहस्यमय दीपक के प्रति
'शिल्प यह प्राण का तुम्हारा है
सूर्य से लघु नहीं कभी दीपक !'

तुम्हारे स्वर की तेजस्विता वहाँ से उपजी है
जहाँ तुम यही सोचती रहीं—
नाश भी हूँ मैं, अनन्त विकास का क्रम भी।
त्याग दिन भी, चरम आसक्ति का तम भी।
इसी सोच ने उदात्तता देकर
तुम्हारी वेदना को
करुणा बना दिया।
तुम सदा अपने को
एक चित्रमयता के बीच ही देखती रहीं
कमल दल पर किरण अंकित
चित्र हूँ मैं क्या चितेरे

मृत्यु की सीमा का बोध तुम्हें वहाँ भी होता रहा
मृत्यु के उर में समा क्या
पायेंगे अब प्राण मेरे।

जीवन-संघर्ष के बीच
तुम नहीं चाहती थीं
कि तुम्हारी छाँह
तुम्हारे लिए
कारा बन जाय,
किन्तु तुम्हें लगा
नदी के उस पार से
कोई तुम्हें पुकार रहा है
'पाथेय-हीन
जब छोड़ गए सब सपने।
आख्यान-शेष
रह गये अंक ही अपने।
तब उस अंचल ने
दे संकेत बुलाया।'
तो तुम अपने ही अन्तर में छिपे
उस संकेत से विवश हो गयीं
और उस कारा की ओर
स्वयं चल पड़ीं।
तुम्हें लगा
तुम्हारे लिए
वह कारा ही मुक्ति है।
'धीर पदों से
छोड़ चले घर
दुख-पाथेय संभाले'
अपने घर की याद
किसे विकल नहीं कर देती।
और तुमने तो
मृत्यु को ही अपनी जननी मान लिया था।
'ओ अंचल जीवन-बाल
मृत्यु जननी ने अंक लगाया।'

आँसू, व्यथा, क्रन्दन, पीड़ा, दुःख, उदासी,
न जाने कितने शब्दों से तुमने
इस परदेस को पहचाना
एक छटपटाहट
तुम्हारे जीवन का पर्याय बन गयी।

तुम्हारा रहस्य
तुम्हारी पंक्तियाँ
हमसे अब भी कहती हैं—
'अश्रुमय कोमल
कहाँ तू आ गयी परदेशिनी री ?'

□ रामदरश मिश्र

## फूल

नागरिक दोस्तो,
हमें उपहास से मत देखो
माना
कि तुम वैभवशाली चहारदीवारियों की
कोमल मिट्टी में उगाये जाते हो
वहाँ नाजों पलते हो
गमलों में उगाये जाकर
हसीन नुमाइशों में सजाये जाते हो
वहाँ सुन्दर चिकने चेहरों के साथ
हँसते हो, मुस्कराते हो
अपने भाग्य पर इठलाते हो

और हम ?
हम तो खुले खुरदरे खेतों में
फेंके गये बीज हैं
जो आवारा पशुओं और मौसमों से
अपने को बचाते हुए
उगते हैं
बढ़ते हैं
और एक दिन सीना तान कर
खिलखिलाने लगते हैं
हमारे साथ खिलखिलाती हैं
अभावों भरी खुरदरी आँखें
हमें देखकर
सूखे चेहरे चमकने लगते हैं

नागरिक दोस्तो,
तुम खिलते हो और खिलकर झड़ जाते हो
हम खिलते हैं
और खिलकर जीते हैं
हम झड़ कर समाप्त नहीं होते
फलों और फसलों में बदल जाते हैं
तुम गले का हार बनते हो
हम पेट का आहार
तुम पल भर में गले से उतार दिये जाकर
कहीं पड़े-पड़े सड़ते हो
हम आदमी के खून का रंग बनते चले जाते हैं
हम अपने को मिटाकर
उदास आँखों का सहारा बन जाते हैं
दोस्त,
हम एक बूंद की तरह अपने को देकर
जिन्दगी की धारा बन जाते हैं
नागरिक दोस्तो,
हमें उपहास से मत देखो ।

□ रमेशचन्द्र शाह

## लय : समय

लय समय में नहीं
लय का भय
अरे यह कवि-समय !

थाप दो अपनी समय को
थाप दो
चाँपने मत दो उसे इस तरह अपने
आप को ।

थाप अपने को समय में
थाप देते तुम समय पर
छाप भी धुलती, समय के
पाप भी धुलते ।

भय-समय के कवि-समय को
लय बनाते
देखते फिर बन्द दुनिया को
अभय में
तुम तनिक खुलते···

## खोल दिए पट

खोल दिए पट अन्तरिक्ष ने
हँसते हैं देवता सामने ।
पीछे
शहर
खिलौने-सा
चमचमा रहा है ।
बूढ़े के बचपन-सा
हौले-हौले
जाग रहा है
वाद्य-वृन्द
जंगल का ।

## नीले आसमान से

नीले आसमान से
उतरी
हरी
सीढ़ियाँ
घाटी में
जा पसरीं ।
पूछो
तनिक वहाँ जा उनसे
कब से यहाँ
पहाड़
पालथी मारे
पड़े हुए हैं ?

□ ब्रजेन्द्र त्रिपाठी

## कविता

कविता में
बहते हैं शब्द
जैसे बहती है हवा
जैसे बहती है नदी
जैसे बहतीं हैं स्मृतियाँ
मन के दर्पण पर।

कविता
दावा नहीं करती
निज़ाम को बदलने का
आग उगलने का
गोली या तलवार बनने का।

अगर कविता
अपने किसी भी पाठक का
मन बदल सकी
उसमें थोड़ी भी
हरारत पैदा कर सकी
तो वह कम सार्थक नहीं।

कविता
नहीं करती दावे
नहीं खाती क़समें
नहीं देती वक्तव्य।

वह तो
चुपचाप असर करती है
मन में खिला देती है गुलाब

श्वाँस-श्वाँस में भर जाती है चंदन
कर जाती है हृदय को करुणा-सिक्त
और ऐसे बहती है—
जैसे बहती है हवा
जैसे बहती है नदी
जैसे बहती हैं स्मृतियाँ
मन के दर्पण पर।

## कोई एक

लगता है
कोई है
जो मुझे बखूबी जानता है
पैठ गया है
अन्तस् के रेशे-रेशे में।

उसकी नंगी, बेलौस आँखें
पीछा करती हैं
हर क्षण, हर घड़ी
और उतरती जाती हैं
परत-दर-परत
भीतर और भीतर।

मेरे सारे मुखौटे
एक-एक कर गिरते जाते हैं
मेरे सारे तर्क
धुनी रूई की तरह उड़ जाते हैं

और हर बार
कर जाती हैं
वे
मुझे
नंगा !
विवस्त्र !!

## ज़िन्दगी

कितनी बार
ऐसा होता है
कि कुछ कहना चाहो
तो आवाज़
गले में घुट के रह जाय
कुछ सुनना चाहो
तो सिवाय एक अंतहीन शोर के
कुछ न सुनाई दे।
कुछ देखना चाहो
तो आँखों में शीशे की पैनी कनी चुभ जाय
कसैला धुआँ भर जाय।

कितना मुश्किल होता है
ऐसे में जीना
ज़िन्दगी की सड़ी-गली चादर को
बार-बार सीना।

चलते-चलते
न जाने कब
सारे गीत
राह में खो चुके हैं
होंठों की हँसी
न जाने कब की सूख चुकी है ?
सामने है—
दूर तक फैली हुई तप्त मरुभूमि
जिसका कोई ओर-छोर दिखाई नहीं पड़ता
और पाँव
इतने बोझिल हो चले हैं
मानो लोहे की मनों वज़नी शृंखलाएँ
डाल दी गयी हों।

अब
तेज़ जाती हुई
साइकिल के नीचे आ जाने वाले

चिचियाते पिल्ले की तरह
ज़िन्दगी
घिसट रही है
कांखती-कूखती
सिर्फ़ घिसट रही है।

## रोशनी की तलाश में

अंधकार
घना अंधकार
आहत सन्नाटे की दबी-दबी चीख़
वातावरण को अपने में समेटता हुआ
दमघोंट कसैला धुआँ।

घुटती साँस
पथरायी जीभ
और सूखता हुआ हलक़ लिये
मैं
घुटनों के बल चलता
कंकरीली छवर पर
बढ़ता ही जा रहा हूँ
बढ़ता ही जा रहा हूँ
रोशनी की तलाश में।

रोशनी?
मिलती तो है
क्षण-मात्र के लिए
सारा परिवेश
झप से उजाले में डूब जाता है
पर आँखें
बंद हो जाती हैं
खुलने पर
अंधकार और भी गहरा उठता है
आँखों के आगे से
गुजरने लगते हैं

रंगीन सितारे
तेज-मद्धम होते हुए
कभी पास और कभी दूर जाते हुए
और रास्ते का
दूर-दूर तक पता नहीं होता

फिर भी
मैं हार नहीं मानता
धीरे-धीरे सरकता
टटोलता हुआ
बढ़ता ही जाता हूँ।

बहुत सम्भव है
मैं गंतव्य से भटक जाऊँ
विषैली झाड़ियाँ
मुझे और भी लहूलुहान कर दें
पर मेरी कुहनी और घुटनों से
रिसता हुआ खून
गवाही देगा
मेरी शहादत का
कि एक और अन्वेषी मारा गया
रोशनी की तलाश में।

□ राजेन्द्रप्रसाद पाण्डेय

# कविता

एक कविता होती है शाम की
अँधेरा तरासते लहूलुहान हो गया सूरज
दूसरे दिन मेरहरी रात का डिब तोड़
जब फिर कुनमुना उठता है
जिसे पढ़ते हैं चुहचुहिया पाँखी
अपनी पूरी जमात के साथ।

एक कविता है
गमकती-गुदगुदाती हवा
जिसे पढ़ता है कंधे हल लादे किसान
रोज सुबह-शाम
अपने बैलों के साथ

कविता में एक लोच है
मुँह अँधेरे पति को ढकेल
चादर खींच ननद जगी
ससुराल में आँगन बुहारती
ठिठक गयी बहुरिया
मायके के स्मृति चित्रों के साथ।

कविता का भरा घड़ा बचपन
अभी-अभी लुढ़का
अभी-अभी भभका
जाने कौन कितना जीवन-रस ले जाये
या कि एक धक्के में
माटी मिल जाये

कविता नहीं गीत है जवानी
हर कोई राजा, हर कोई रानी
अभी-अभी फूल महकते हैं
अभी-अभी आँधी, बिजली, पानी-पानी।

कनखी-कनखी सब कुछ भाँपा
कविता में व्यंग्य है बुढ़ापा
दुश्मन से दुश्मनी बच्चों से अपनापा
चीज़ों को ठीक से सजाओ
बेटी ससुराल से बुलाओ
मुस्काया, कुशल-क्षेम पूछा
थोड़ा चीख़ा, ज़्यादा हाँफा।

कविता औरत का दुखद पक्ष भाई!
मौत मिली सौतन हरजाई
लुका-छिपी, रूठन-मनुहारन
उँगली पकड़ी
घर घुस आयी
बोलें न डोलें रिसियाये
अपने ये? कौन तब पराये?
सारे संबंध ताख पर रखे
जलाया, दफनाया, शांति पायी।

यहाँ-वहाँ फैली है कविता-ही-कविता
यहाँ-वहाँ घटित हुई कविता-ही-कविता
कोई कवि बेचारा क्या लिखेगा कविता?
कोई भी बेचारा क्या पढ़ेगा कविता?

□

# मरण-त्योहार

□ **विष्णु प्रभाकर**

पात्र परिचय :

**वेलुतम्पी** : ट्रावनकोर राज्य के मुख्यमंत्री ।
**पद्मनाभन** : वेलुतम्पी के छोटे भाई
**मैकाले** : ईस्ट इण्डिया कंपनी का अधिकारी
**महाराज** : ट्रावनकोर के महाराज
**धाय माँ** : वेलुतम्पी की माँ
**अरम्मुकुट्टी** : वेलतम्पी की प्रेमिका-चेतना
(**गोरा कप्तान, नागरिक उद्घोषक** आदि)

**[मंच पर नारियल केले के वृक्षों की पृष्ठभूमि में एक छोटा-सा वीरान देवी का मन्दिर जिसमें दो-तीन व्यक्ति बस बैठ सकते हैं। दो क्षण बाद एक ओर से वेलुतम्पी और पद्मनाभन वहाँ प्रवेश करते हैं। फटेहाल बुरी तरह थके पर आँखों में अभी भी विश्वास और आशा की ज्योति झलक रही है। दोनों देवी को साष्टांग प्रणाम करते हैं]**

**पद्मनाभन** : आखिर माँ आपने ही शरण दी।

**वेलुतम्पी** : थोड़ा और समय मिल गया जीने को ।

**पद्मनाभन** : **(पूर्ववत)** अब आप ही हमारी रक्षक हैं। आप ही हमें रास्ता दिखा सकती हैं। आप ही हमारी कठिनाइयों को आसान कर सकती हैं। आप सर्वअन्तरयामी और सर्व-शक्तिमान हैं···

**[स्वर धीमा और धीमा होता है जैसे वह ध्यान मग्न हो जाता है। वेलुतम्पी भी न जाने कहाँ खो गये हैं जैसे अपने से ही बातें कर रहे हैं]**

**वेलुतम्पी** : **(स्वगत)** क्या से क्या हो गया, जैसे कोई सपना देखा हो। हाँ, मैंने एक सपना ही तो देखा था, फिरंगियों के बढ़ते शिकंजे से मुक्ति पाने का सपना, पूरी रियासत को चेर साम्राज्य की तरह एक करने का सपना···सब चकनाचूर हो गया। मेरे सपनों के भवन की दीवारें उठ ही रही थीं कि जोर का भूचाल आ गया। सब कुछ ढह गया (**अल्प विराम : संगीत—फिर सहसा आवाज ऊँची होती है जैसे कोई भविष्यवाणी करता हो**) पर मैं जानता हूँ यह पराजय स्थायी नहीं है। फिरंगियों का राज्य हमेशा नहीं रहेगा। नये लोग आयेंगे और भविष्य का निर्माण फिर शुरू

करेंगे और अन्त में वे फिरंगियों को यहाँ से भगा देंगे। कोई किसी को हमेशा के लिए गुलाम नहीं बना सकता। आज़ादी हर आदमी का बुनियादी अधिकार है और वह उस अधिकार को लेकर रहेगा···

**[सहसा पद्मनाभन आँखें मलता हुआ उठता है और चारों ओर देखता है]**

**पद्मनाभन** : आप यहीं ठहरें भइया। मैं आसपास टोह लेता हूँ। खाने के लिए कहीं कुछ केले ही मिल जाएँ। आह! नारियल, केले, कटहल और फूलों से भरे अपने उस प्रदेश में हम कितने विपन्न हो गये हैं आज। भीख माँगने का भी अधिकार नहीं है हमें। **(दीर्घ निःश्वास)** धान की कलम भी सूख गई।

**[कहते-कहते वह बाहर चला जाता है। वेलुतम्पी उस ओर से बेख़बर सोचते-सोचते स्वप्न लोक में खो जाते हैं। दूर कहीं घण्टियाँ बजती-बजती पास आती हैं। वह चौंकता है तभी दूर से हँसी की आवाज़ उभरती है वह जैसे उसे पहचानता है]**

**वलुतम्पी** : कौन! कौन हँसता है?

**[वेलुतम्पी उठकर बैठ गये हैं। कर्नल मैकाले मंच पर आते हैं और उसके पास जाकर खड़े हो जाते हैं। ये सब घटनाएँ अर्ध चेतना अवस्था की हैं]**

**मैकाले** : **(व्यंग्य से हँसता है)** पहचाना नहीं, यह मैं हूँ मैकाले। मैंने कहा था न कि मुझसे मट टकराओ लेकिन टुम नहीं माने। मैंने टुम्हें बचाया और टुमने कोच्चीन के डीवान अच्चन से मिलकर मुझे मारने का षडयन्ट्र किया। टुमने जमोरिन को डावट डी···

**वेलुतम्पी** : चुप रहो, विश्वासघाती। मैंने तुम्हें अपना दोस्त समझकर तुम्हारा विश्वास किया। महाराज को उस गन्दी सन्धि पर दस्तखत करने को मनाया इसलिए कि तुम नजराने की रक़म कम कर दोगे पर तुमने मुझे हर बार धोखा दिया।

**मैकाले** : **(पूर्ववत् हँसता है)** राजनीटि में कोई किसी का डोस्ट नहीं होटा। और यह भी सुन लो मैंने टुम्हारे साथ विश्वासघाट नहीं किया। यह हमारी रणनीटि है। टुम हमारे कारण नहीं मारे गये। तुम्हारे अपने डोस्टों ने टुम्हारे साठ विश्वासघाट किया है। माट्टु टरकन और खंजी कृष्ण मेनोन हमारे पास इसलिए आये कि टुम लोगों से हिसाब चुकटा कर सके। हमने उनकी मडड की क्योंकि ऐसा करने में हमारा फायडा था। हमें इस देश पर हकूमट करनी है। इसे तहजीब सिखानी है।

**वेलुतम्पी** : **(चीख़कर)** तुम ऐसा नहीं कर सकते।

**मैकाले** : **(पूर्ववत्)** हम करेंगे और टुम्हारे दोस्टों की मडड से करेंगे। टुमने भी टो हमारी मडड से···

**वेलुतम्पी** : बार-बार उस ग़लती की याद मत दिलाओ। मैं उसी का प्रायश्चित कर रहा हूँ। वैसे वह भी मेरी राजनीति थी। मानता हूँ हम एक नहीं हैं। मानता हूँ सत्ता की भूख ने हमें पथ-भ्रष्ट कर दिया है पर मैकाले मेरी हार का कारण वह नहीं है। तुम्हारी सैन्यशक्ति, तुम्हारी तोपों और बन्दूकों के सामने हमारी तलवारें, भाले, तीर-कमान टिक नहीं सकते थे टिके भी नहीं। इसीलिए हम हार गये पर···

**मैकाले** : मन बहलाने के लिये यह ख़याल अच्छा है टम्पी। लेकिन मैं कहटा हूँ कि अगर टुम

अब भी माफी माँग लो टो···

वलुतम्पी : (चीख कर) माफी !! मैकाले ! मैं माफी माँगने के लिये इतनी दूर नहीं आया हूँ। तुम्हारे अपवित्र हाथ मुझे जीते जी नहीं छू सकेंगे। मेरी लाश ही तुम्हें मिलेगी।

मैकाले : रस्सी जल गयी पर बट नहीं मिटे।

वलुतम्पी : रस्सी तो शरीर है मैकाले ! जलना नष्ट होना उसका स्वभाव है। असली वस्तु है आत्मा। उसे हजार-हजार मैकाले और वैलेजली नहीं जला सकते। सुन ले मैकाले ! मेरी वह आत्मा हजार-हजार बार नाना रूपों में इस देश में जन्म लेगी और तुम्हें और तुम्हारे दरिन्दों को यहाँ से निकाल बाहर करेगी।

मैकाले : यह टुम्हारा सपना है टम्पी हक़ीकत नहीं।

वलुतम्पी : हर हक़ीकत पहले सपना ही होती है मैकाले। मेरे सपनों की यह गौरव गाथा आने वाली पीढ़ियों की प्रेरक-शक्ति बनेगी और वे···

**[सहसा फिर घण्टियाँ बज उठती हैं और मैकाले यंत्रवत वहाँ से हट जाता है। वेलुतम्पी भी लेट जाता है। घण्टियों की आवाज मधुर होती है और धाय माँ धीरे-धीरे मंच पर प्रवेश करती है)**

धाय माँ : वेलु ! बेटा वेलु !! (**वेलुतम्पी धीरे-धीरे उठता है**)

वेलुतम्पी : कौन ? किसका स्वर है यह। माँ ! तुम हो क्या ?

धाय माँ : हाँ वेलु ! यह मैं ही हूँ। तू घबरा तो नहीं गया। जो कुछ तू कर सकता था तूने किया पर माँ भद्रकाली को शायद अभी और बलिदान चाहिये। अभी और रक्त माँगती है वह।

वलुतम्पी : माँ भद्रकाली अभी और रक्त चाहती है तो वह भी उसे मिलेगा। तुम निश्चित रहो। मैं कायर नहीं बनूंगा।

धाय माँ : जानती हूँ बेटे। मैं ही तुझे न जानूंगी तो और कौन जानेगा। तू मेरी कोख से नहीं जन्मा पर दूध तो मेरा ही पिया है तूने। एक दिन मेरी पैदावार पर कम लगान लगाने के लिए तूने अपने ही अधिकारियों को दण्ड दिया था। तू ग़लती नहीं कर सकता।

वलुतम्पी : तुम्हारी गोद में ही पला हूँ माँ। तूने ही तो मुझे घुट्टी में अन्याय का विरोध करने का मंत्र घोलकर पिलाया है। तुम ही तो मेरी पहली गुरू हो।

धाय माँ : (**विश्वास भरा स्वर**) इसीलिए तो कहती हूँ वेलू। पीछे मुड़कर मत देखना। वहाँ हम सब तेरे साथ हैं। आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों तेरा सपना जरूर पूरा होगा, जरूर पूरा होगा···

**[स्वर भर्राता है, आशीर्वाद की मुद्रा में हाथ उठाये वह शीघ्रता से मंच से बाहर चली जाती है। वेलुतम्पी एक क्षण स्तब्ध रहकर फिर लेट जाता है। अल्प विराम। घंटियाँ फिर बजने लगती हैं। सहसा महाराज तेजी से मंच पर आते हैं, ठिठकते हैं।]**

महाराज : कहाँ है, कहाँ है तम्पी ?

वेलुतम्पी : (**चौंक कर उठता है**) कौन। महाराज ! आप यहाँ···

महाराज : यह क्या हुआ तम्पी।

**वेलुतम्पी :** ठीक हुआ महाराज ! बहुत ठीक हुआ। आपने मेरी बात मानकर मुझे देशद्रोही करार दे दिया और हमारा राज बच गया।

**महाराज :** बच गया पर किस कीमत पर ?

**वेलुतम्पी :** जितनी कीमती चीज होती है उतनी ही बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है। यहाँ तो बस मेरे प्राणों का सौदा हुआ है। क्या कीमत है मेरे प्राणों की एक रोज के सामने।

**महाराज :** वेलु ! तुम नहीं जानते तुम्हारे उत्सर्ग के सामने आज मेरा राज छोटा पड़ गया।

**वेलुतम्पी :** ऐसा न कहिए महाराज ! विश्वास रखिये, मेरे प्राणों का ही नहीं उन सब व्यक्तियों के प्राणों का मोल चुकाया जाएगा जिन्होंने फिरंगियों की चाल को विफल करने के लिए हँसते-हँसते मौत को गले लगाया है।

**महाराज :** कौन चुकाएगा यह मोल ?

**वलुतम्पी :** मेरे देश की आने वाली पीढ़ियाँ, मेरी आँखें आज सुदूर भविष्य में झाँक सकती हैं। मैं देख सकता हूँ कि यह जो प्रबल असन्तोष फिरंगियों के प्रति इस देश में उमड़ रहा है वह कालान्तर में उस संघर्ष में बदल जाएगा जो फिरंगियों को यह देश छोड़ने को विवश कर देगा।

**महाराज :** तुम्हारे इस अदम्य आशावाद के प्रति मैं नतमस्तक हूँ वेलु !

**वेलुतम्पी :** महाराज ! इस आशावाद के कारण ही तो मैं इस रक्तरंजित मार्ग पर इतना आगे बढ़ आया हूँ। विश्वास रखिये हमारा यह नारिकेल और केले के कुँजों से आवेष्ठित तपोवन सरीखा हरा भरा प्रदेश सागर की उत्ताल तरंगें जिसकी रक्षा करती हैं एक दिन एक होकर रहेगा। हमारी एकता ही हमारी आजादी को बचा सकती है। आप उस एकता के लिए प्रयत्न करते रहिये।

**महाराज :** काश मैं कर सकता। मुझे फिरंगियों का इतना डर नहीं है जितना उम्मिणितम्पी और वालन पिलै जैसे लोगों का।

**वेलुतम्पी :** जानता हूँ महाराज ! पर आज नहीं तो कल ऐसा होकर रहेगा। आप नहीं कर पायेंगे तो आपके और हमारे वंशधर करेंगे।

**महाराज :** यही आशा तो मुझे जिन्दा रखे है वरना···

**[घंटियाँ फिर सहसा बज उठती हैं महाराज उसी तेजी से बाहर जाते हैं और वेलुतम्पी लेट जाते हैं। दो क्षण बाद प्रयाण गीत की गूँज पास आती है और फिर तेज होकर वातावरण पर छा जाती है। स्वर पास आते हैं।]**

**गगन उगलता आग हो**
**छिड़ा मरण का राग हो**
**लहू का अपने फाग हो**
**अड़ो वहीं गड़ो वहीं**
**बढ़े चलो, बढ़े चलो। बढ़े चलो।**

(सोहनलाल द्विवेदी)

**[सहसा वेलुतम्पी उठकर उन पंक्तियों को दोहराता है]**

**वेलुतम्पी :** **गगन उगलता आग हो**
**छिड़ा मरण का राग हो**

लहू का अपना फाग हो
अड़ो वहीं, गड़ो वहीं

कौन दे रहा है यह उद्बोधन ! किसका है यह प्रेरक स्वर (**तब तक अम्मुकुट्टी मंच पर आ जाती है**)

**अम्मुकुट्टी** : ये प्रेरक शब्द तुम्हारी अपनी चेतना के हैं, मेरे दलवा ! तुम स्वयं अपने को उद्बोधन दे रहे हो।

**वलुतम्पी** : तो यह तुम हो अम्मु ! मेरी चेतना, मेरी अन्तरात्मा।

**अम्मुकुट्टी** : हाँ मेरे दलवा ! मैं तुम्हारी चेतना हूँ। तुम से अलग दीखती हूँ पर अलग नहीं हूँ। चेतना कभी व्यक्ति से अलग नहीं होती। कभी-कभी उसे लगता है कि उसके अन्तर में उठने वाले स्वर कहीं बहुत दूर से आ रहे हैं। यह तब होता है जब उसकी चेतना मात्र उसकी न रहकर सबकी बन जाती है।

**वेलुतम्पी** : लेकिन अम्मू ! मेरी चेतना सबकी चेतना होकर हार कैसे गयी।

**अमुकुट्टी** : (**हँसती है**) चेतना हार गयी। यह तुम कहते हो दलवा ! रास्ता बहुत लम्बा है। मार्ग में न जाने कितने पड़ाव हैं। बस वह आराम करने को एक पड़ाव पर रुक गयी है। नयी शक्ति, नया रक्त पाकर नये तेवर से फिर आगे बढ़ जाएगी। अभी रक्तयज्ञ पूरा कहाँ हुआ है। यह मरण त्योहार है मेरे दलवा ! मरने से जीवन का अन्त नहीं होता। वह तो सदा रहा है, सदा रहेगा। नया-नया रूप धरकर वह सधर्म को सदा जारी रखेगा। यही बात तो तुम अभी-अभी महाराज से कह रहे थे।

**वेलुतम्पी** : वह तो मैं अब भी कहता हूँ कि यह मरण-त्योहार। मरणयज्ञ करना पड़ता है इस त्योहार में। यही यज्ञ तो हो रहा है आजकल। इसमें अभी और आहुति देनी शेष है। मैं अपनी आहुति दूँगा पर···

**अम्मुकुट्टी** : कोई पर-वर नहीं। तुम्हें अपनी आहुति देनी ही होगी। बिना रक्तदान के स्वतन्त्रता का रक्त कमल नहीं खिलता। तुम्हें रक्तदान करना है, तुम्हें रक्तदान करना है···

[**स्वर गूंजते हैं। अम्मुकुट्टी मंच से बाहर चली गयी है। वेलुतम्पी सो जाता है। पृष्ठभूमि में प्रयाण गीत फिर उभरता है :**

**गगन उगलता आग हो,**
**छिड़ा मरण का राग हो,**
**लहू का अपना फाग हो,**
**अड़ो वहीं, गड़ो वहीं,**
**बढ़े चलो, बढ़े चलो।**

(**दो क्षण बाद घंटियाँ बजनी बन्द हो जाती हैं वेलुतम्पी मूर्च्छा से जागता है। चारों ओर देखता है।**)

**वेलुतम्पी** : तो यह तुम थीं भद्रकाली माँ ! तुमने मुझे नाना रूपों में दर्शन दिये। तुमने कहा कि बिना रक्तदान के स्वतंत्रता का रक्त कमल नहीं खिल सकता (**अल्प विराम**) समझ गया माँ ! मुझे रक्तदान करना ही होगा। करना ही होगा···

[**तभी पद्मनाभन भागता हुआ आता है**]।

**पद्मनाभन** : वे आ गये भइया ! उनकी सेना के एक बड़े दल ने हमें चारों ओर से घेर लिया है।

**वेलुतम्पी :** घेर लिया है।'''यह अच्छा ही हुआ पद्मनाभन ! मेरे वतन की मिट्टी लाल है। रक्त का रंग भी लाल है। इसीलिए मेरे वतन की लाल मिट्टी को लाल रक्त की जरूरत है। वह जरूरत मैं अवश्य पूरी करूँगा। रक्तदान करने का जो सपना मैंने देखा था वह अवश्य पूरा होगा।

**पद्मनाभन :** (**चकित-सा**) लाल मिट्टी, लाल रक्त, रक्तदान सपना, यह सब क्या है भइया'''

**वेलुतम्पी :** अभी समझ जाओगे। लो वे आ ही गये। (**शोर पास आता है**) ये आवाज़ सुन रहे हो न। ये मुझे जिन्दा पकड़ना चाहते हैं पर पकड़ नहीं सकेंगे'''

[**शोर बहुत पास आ जाता है एक तेज आवाज उभरती है**]

**आवाज :** वेलुटम्पी ! टुम घिर गये हो। बाहर आ जाओ। हम नहीं चाहटे कि मन्डिर में खून बहे।

**वेलुतम्पी :** (**तेज आवाज**) लेकिन भद्रकाली माँ चाहती हैं। (**मुड़कर पद्मनाभन से**) पद्मनाभन ! लो, यह कटार लो और मेरे सीने में भोंक दो।

**पद्मनाभन :** (**काँपकर**) नहीं'''नहीं'''मैं ऐसा नहीं कर सकता। नहीं कर सकता।

[**शोर बढ़ता है**]

**आवाज :** अभी भी समय है बाहर आ जाओ।

**वेलुतम्पी :** पद्मनाभन ! जल्दी करो।

**पद्मनाभन :** (**आँखों में हाथ रखकर**) मैं नहीं कर सकता भइया ! मैं नहीं कर सकता।

**वेलुतम्पी :** (**तड़पकर**) कायर ! तुम नहीं कर सकते लेकिन मैं कर सकता हूँ। मैं जीते जी दुश्मन के हाथ नहीं आऊँगा (**कहते-कहते कटार सीने में भोंक लेता है**)।

**पद्मनाभन :** (**पागल-सा**) अब समझा। यह है तुम्हारा रक्तदान लेकिन तुम तड़प रहे हो। नहीं, नहीं, मैं तुम्हें तड़पने नहीं दूँगा। मैं तुम्हें इस मर्मान्तक पीड़ा से मुक्त करूँगा (**तलवार से वार बार बार करता है। गोरी सेना के प्रमुख मंच पर जाते हैं**) आ गये आप। आपका ही इन्तजार था। आपका परम शत्रु आपके सामने लेटा है। (**हँसता है**) पकड़ना चाहते हो उसे। पकड़ो (**जोर-जोर से पागलों की तरह हँसता है**) पकड़ो'''

**गोरा कप्तान :** (**दीर्घ निःश्वास**) सब कुछ खट्म हो गया। अफसोस हम इस बागी को जीटे जी नहीं पकड़ सके (**एकदम**) पर कोई बाट नहीं। हम इसकी लाश को सूली पर लटकावेंगे (**मुड़कर**) सिपाहियो ! इसकी लाश को घसीटते हुए ले चलो और ट्रिवेण्ड्रम के बाजार में सरेआम साट डिन टक सूली पर लटकाये रखो टाकि लोग सबक लें। और इस पद्मनाभन को भी पकड़ लो।

[**कुछ सैनिक लाश को घसीटते हुए मंच से बाहर ले जाते हैं। कुछ पद्मनाभन को खींचते हैं। दो क्षण बाद वहाँ स्तब्धता छा जाती है। अँधेरा सब कुछ को ग्रस लेता है। जब फिर प्रकाश उभरता है तो एक ओर से उद्घोषक मंच पर घोषणा करता हुआ आता है।**]

**उद्घोषक :** सुनें, सुनें ! सभी नागरिक सुनें। सभी खासोआम, औरत-मर्द सुनें। खतरनाक बागी वेलुतम्पी की लाश हमें मिल गयी है। उस लाश को कण्णमूला में सूली पर लटकाया जा रहा है। सब नागरिकों सब खासोआम को हुक्म दिया जाता है कि वे

आकर देखें कि बगावत करने वालों का क्या अन्जाम होता है। सुनें, सुनें सब सुनें। सब लोग उसे जाकर देखें और सबक लें। सुनें, सुनें···

[**उद्घोषक उद्घोषणा करता हुआ बाहर चला जाता है। एक क्षण बाद अम्मुकुट्टी कुछ नागरिकों के साथ धीरे-धीरे वहाँ आती है।**]

**अम्मुकुट्टी** : (**हँसती है**) ये फिरंगी कायर ही नहीं मूर्ख भी हैं। कहते हैं, वे दलवा की लाश को सूली पर लटकायेंगे लेकिन वह लाश दलवा की है कहाँ?

**नागरिक** : (**एक साथ**) लाश दलवा की नहीं है तो फिर किसकी है?

**अम्मुकुट्टी** : उनकी अपनी है। अपनी लाश को सूली पर लटका कर वे हमें डराना चाहते हैं।

**नागरिक** : (**पूर्ववत**) उनकी लाश ! हम समझे नहीं।

**अम्मुकुट्टी** : समझे नहीं। अजी वे समझते हैं कि दलवा के जाने पर दलवा का अन्त हो गया पर यह दलवा का अन्त नहीं है। उनके अपने अन्त का आरम्भ है।

**नागरिक** : (**पूर्ववत**) उनके अपने अन्त का आरम्भ (**अल्प विराम**) ओह समझे। उनके अपने अन्त का आरम्भ। यानी स्वाधीनता की लड़ाई का आरम्भ।

**अम्मुकुट्टी** : हाँ, यह स्वाधीनता की लड़ाई का आरम्भ है। और हमने इसकी नींव में अपनी सबसे कीमती वस्तु रखी है। और वह कीमती वस्तु है हमारे प्यारे दलवा का रक्त। उसके गौरव की रक्षा होनी चाहिए और मैं जानती हूँ इतिहास उसके गौरव की रक्षा करेगा। फिरंगी हमें कुछ दिन परेशान कर सकते हैं। लेकिन फिर वही होगा जो सदा होता आया है।

**नागरिक** : (**आत्मविभोर**) जो सदा होता आया है। यानी हमारा प्यारा दलवा हर आने वाले स्वाधीनता सेनानी में जियेगा।

**अम्मुकुट्टी** और तब तक जियेगा, जब तक इस देश पर से फिरंगियों के शासन का अन्त नहीं हो जाता। देर हो सकती है लेकिन जुल्म सदा जालिम को ही खाता है। (**एकदम सैनिक की तरह सैल्यूट करती है**) हमारे देश की आजादी जिन्दाबाद। हमारी स्वाधीनता अमर रहे।

[**फिर जैसे विद्रोहियों का नेतृत्व कर रही हो। यन्त्रवत मार्च करती और गाती हुई मंच से बाहर चली जाती है**]

**बढ़े चलो, बढ़े चलो**
**चलो नयी मिसाल हो**
**चलो नयी मशाल हो**
**चलो नया कमाल हो**
**बढ़े चलो, बढ़े चलो**

[**सब नागरिक यन्त्रवत गाते-गाते उसके पीछे चले जाते हैं। दो क्षण गीत के स्वर गूंजते हैं और फिर परदा गिर जाता है। उसके बाद भी गीत के बोल गूंजते रहते हैं और सारे वातावरण पर छा जाते हैं।**]

व्यंग्य

# पुरस्कृत होने का मतलब

□ प्रदीप पंत

कैसा अभागा हूँ मैं कि अब तक मुझे कोई पुरस्कार नहीं मिला !

शुभचिन्तक मिलते हैं और दो-चार मिनट बातचीत करने के बाद तुरंत सवाल जड़ देते हैं, "क्या तुम्हें कोई पुरस्कार नहीं मिला अभी तक ?"

"नहीं !" मैं कहता हूँ।

"इसीलिए।" कहते हुए वे चेहरे पर रहस्यमय भाव लाते हैं और चल देते हैं।

बहुत समय तक मैं इस रहस्य को समझ नहीं पाया था, लेकिन अब समझ गया हूँ। आपको भी बताता हूँ, पर रहस्य की बात है न, इसलिए थोड़ा रुककर।

कैसा अभागा हूँ मैं कि अब तक मुझे कोई पुरस्कार नहीं मिला !

कई मित्र पुरस्कृत हो चुके हैं—कोई कहानी-कविता लिखकर तो कोई नाटक-उपन्यास लिखकर। एक-दो ऐसे भी हैं जो केवल चुटकुलों की पुस्तक लिख कर पुरस्कार प्राप्त कर चुके हैं। ऐसे मित्रों की भी कमी नहीं जिन्होंने अनेक प्रभावशाली लोगों के इंटरव्यू लिए, पत्र-पत्रिकाओं में छपाए, फिर उन्हें इकट्ठा कर पुस्तकें तैयार कीं और पुरस्कृत हो गए। पुरस्कार देने वालों ने कहा कि साहित्य में यह उनका मौलिक और सृजनात्मक योगदान है। मेरे कुछ मित्र पुरस्कार पाने का गौरव प्राप्त कर चुके हैं। एक मित्र को ऐसा पुरस्कार हिन्दी की सेवा के लिए मिला। पुरस्कार देने वालों ने इसे 'सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक पुरस्कार' घोषित किया। दरअसल हिन्दी में ऐसे सेवकों की कमी नहीं है, इसीलिए हिन्दी फल-फूल रही है। इधर सरकार हिन्दी के प्रचार-प्रसार की किसी योजना की घोषणा करती है, उधर ऐसे हिन्दी सेवी उस योजना के एक-एक वाक्य का गहन अध्ययन-मनन विश्लेषण कर लम्बा दान-अनुदान लेते हैं और सेवा में जुट जाते हैं। अगर ऐसे निःस्वार्थ हिन्दी सेवी पुरस्कृत होते हैं, तो बुरी बात क्या है !

कोई बुरी बात नहीं, लेकिन अभागा मैं ही हूँ कि मुझे अब तक एक भी पुरस्कार नहीं मिला !

बचपन से अब तक पुरस्कार के लिए ट्राई करता आ रहा हूँ, पर पता नहीं चूक कहाँ पर हो जाती है। मेरे एक सहपाठी को काव्य-प्रतियोगिता में पुरस्कार मिला तो मैंने उसे बधाई देते हुए कहा, "यार, तू दोस्त है, तुझसे क्या छिपाना। काव्य-प्रतियोगिता के निर्णायक हिन्दी

के मास्साब से कम-से-कम नहीं तो तीन बार मैंने कहा था कि प्रतियोगिता के लिए कविता भेजी है। पर मुझे प्रथम पुरस्कार मिलना तो दूर सांत्वना पुरस्कार तक नहीं मिला···।"

सहपाठी हँसा, "बस, यहीं पर तुझसे ग़लती हो गई। मुझे देख, मैंने मास्साब से एक बार भी नहीं कहा, पर हाँ, उनके घर जाकर सौदा-पत्ता अक्सर ले आता था। एक दिन गाँव से एक किलो मक्खन लाकर चुपचाप उनके घर दे आया। दूसरे दिन मास्साब बोले, "तुमने काव्य-प्रतियोगिता में भाग लिया है या नहीं ?" मैंने धीरे से सिर हिला दिया। मास्साब समझ गए। अगले दिन उन्होंने कहा, "तुम्हारे गाँव का मक्खन वाकई शुद्ध है। अगली बार जाओ तो एकाध किलो और ले आना।" मैं समझ गया और अब परिणाम सामने है···।"

"सो तो है ही !" मैंने कहा और लगे हाथों मक्खन तथा साहित्य के रिश्ते को भी समझ गया।

बड़ा मुलायम रिश्ता है दोनों के बीच और पुरस्कार ही नहीं साहित्य में मान्यता प्राप्त करने में भी ऐसे शुद्ध मक्खन का योगदान होता है। मैं तो अब तक लगभग सभी आलोचकों को नाराज़ कर चुका हूँ, लेकिन अगर आप लेखक हैं और नवोदित हैं तो हिन्दी साहित्य के जाने-माने आलोचकों को किलो-दो किलो मक्खन अवश्य दीजिए, आपको ख्याति मिलकर रहेगी।

खैर, यह आलोचकों वाले मुद्दे पर बातचीत फिर कभी, फ़िलहाल तो केवल इतना ही कि देखिये, मैं कैसा अभागा हूँ जो मुझे अब तक कोई पुरस्कार नहीं मिला !

मेरे दोस्तों में कई सम्मानित किस्म के चोर भी हैं। ऐसे ही चोर-मित्र के बारे में बताता हूँ। पहले वह केवल मित्र था, एक दिन सम्मानिता चोर-मित्र बन गया। किस्सा-कोताह यह कि हमारे कस्बे में काव्य-प्रतियोगिता हुई। मैंने सोचा, इस बार तो पुरस्कार मिल कर रहेगा, इसलिए एक मित्र के साथ बैठ कर अपनी कई कविताओं में से एक कविता छाँट कर प्रतियोगिता में भेजी। कुछ दिन बाद परिणाम आया तो मेरा नाम 'सांत्वना पुरस्कार' पाने वालों की तीन फुट लम्बी सूची में भी कहीं पर नहीं था और मज़ा यह कि जिस मित्र के साथ बैठ कर कविता छाँटी थी, उसे 'प्रथम पुरस्कार' मिल गया था। मैंने उससे पूछा, "यह कमाल कैसे हो गया, दोस्त ! तू तो छिपा रुस्तम निकला। ! कविता कब से लिखने लगा ?"

वह हँसा, "अब तक तो मैंने एक भी कविता नहीं लिखी, पर अब चूँकि पुरस्कृत हो गया हूँ, इसलिए लिखना शुरू कर दूँगा। आखिर पुरस्कार की तो लाज रखनी ही पड़ेगी न !"

मैंने कहा, "अब तक नहीं लिखी तो पुरस्कार कैसे मिल गया ?"

वह और ज़ोर से हँसा, "उस दिन तू जब प्रतियोगिता के लिए कविता छाँट रहा था तो मैंने चुपचाप तेरी एक कविता अपने बैग में रख ली थी। तू उस समय चाय लाने अन्दर गया था। मैं उस कविता से इतना अभिभूत हुआ कि मैंने सोचा, ऐसी कविता तो मुझे लिखनी चाहिए। घर आकर मैंने उसे एक कागज़ पर उतारा और प्रतियोगिता के लिए भेज दिया और पुरस्कृत हो गया।"

मेरा मन हुआ, उसका गला दबा दूँ, पर इतनी हिम्मत मुझ में नहीं थी, इसलिए खिसियाते हुए उसे बधाई दे दी। मेरा मित्र सम्मानित चोर हो गया। अब वह धड़ाधड़ कवि-सम्मेलनों में जाता है। जाने कितनों की कविताएँ चुरा चुका होगा वह अब तक।

एक मैं हूँ कि मैंने आज तक किसी की एक पंक्ति नहीं चुराई, फिर भी अभागा ऐसा हूँ कि अब तक मुझे एक पुरस्कार भी नहीं मिला।

पुरस्कार मिल जाता तो मैं भी भले लोगों में गिना जाने लगता। बताया था न कि शुभचिन्तक मिलते हैं तो दो-चार मिनट की बातचीत के बाद ही सवाल जड़ देते हैं, "क्या तुम्हें कोई पुरस्कार नहीं मिला अभी तक ?"

इधर मेरे शुभचिन्तकों की संख्या बड़ी तेजी से कम होती जा रही है। यही रफ्तार रही तो वह दिन दूर नहीं जब एक भी शुभचिन्तक नहीं रह जाएगा। अधिकांश शुभचिन्तकों को मैं नाराज कर चुका हूँ। दो-चार मिनट बात करते ही मैं कोई ऐसी हरकत कर डालता हूँ कि वे उखड़ जाते हैं। कभी लफंगों की तरह बिना बात गाली-गलौज पर उतर आता हूँ, कभी शोहदों की तरह अभद्र हरकतें करने लगता हूँ। कुछ न सूझा तो खड़े-खड़े उन्हें चिढ़ाने ही लगता हूँ। वे समझ जाते हैं कि इसे पुरस्कार नहीं मिला इसीलिए ऐसी हरकतें कर रहा है। कभी-कभी कुछ शुभचिन्तक साफ़-साफ़ शब्दों में ही कह जाते हैं, "चिन्ता मत करो, पुरस्कृत हो जाओगे तो अपने आप सब कुछ ठीक हो जाएगा !"

मुझे लगता है, उनका कहना ग़लत नहीं है। मेरे कई दोस्त बिलकुल मुझ जैसे ही थे पहले—लफंगे और शोहदेनुमा, सड़क चलते पता नहीं किसकी कब बेइज्जती कर दें। पर उन्हें पुरस्कार मिले तो वे एकदम बदल गए। पहला बदलाव उनमें यह आया कि उन्होंने मेरा साथ छोड़ दिया। मैंने एक पुरस्कृत मित्र से पूछा, "यार, अब तुम दिखाई नहीं देते !"

उसने छूटते ही कहा, "तुम जैसे बदनाम के साथ रहकर अपनी ख्याति को धूल में थोड़े ही मिलाना है !"

मैंने कहा, "अभी हाल तक तो तुम रात देर-देर तक शहर की गलियों में घूमा करते थे मेरे साथ।"

वह गंभीर स्वर में बोला, " तब की बात और थी। तब मैंने अपनी प्रतिभा को पहचाना नहीं था। अब पुरस्कार देने वालों ने मुझे मेरी प्रतिभा का अहसास करा दिया है। अब मैं गम्भीर हो गया हूँ।"

पुरस्कृत लेखक गम्भीर हो जाते हैं।

मैं अब तक गम्भीर नहीं हुआ हूँ, इसलिए कि मुझे किसी ने पुरस्कार नहीं दिया। यही वजह है कि अच्छे-खासे शुभचिन्तक भी दो-चार मिनट बात करके मुझसे कतराकर निकल जाते हैं। कुछ लोग तो मुझे सामने से आता देख चुपचाप किसी गली में मुड़ जाते हैं या सड़क की दूसरी ओर चले जाते हैं।

अगर मुझे पुरस्कार मिल जाए तो मैं भी गम्भीर हो जाऊँगा।

पुरस्कृत लेखक सिर्फ़ गम्भीर ही नहीं हो जाता, उसकी बोलचाल और हावभाव में भी परिवर्तन आ जाता है। अभी हाल में एक पुरस्कृत लेखक से भेंट हुई। पहले वह मिलता था तो केवल अपनी ही अपनी कहता था, औरों की सुनता नहीं था। सुनता तो वह औरों की अब भी नहीं है, लेकिन अपनी एक-एक बात बहुत सोच-सोचकर कहता है। शायद उसे लगता है कि पुरस्कृत होने वाले लेखक के लिखने पर ही अनेक उत्तरदायित्व नहीं आ जाते, बल्कि बोलने पर भी आ जाते हैं। अब वह बोलते समय बहुत चौकन्ना रहता है। कुछ भी कहने से पहले इधर-उधर देखता है कि कहीं कोई उसके अमूल्य शब्दों को टेप तो नहीं कर रहा ? दरअसल अब वह हिन्दी साहित्य का ज्यां पाल सार्त्र हो गया है, फर्क बस इतना ही है कि सार्त्र ने पुरस्कार ठुकरा दिया था, उसने पुरस्कार को दबोच कर रख लिया।

एक पुरस्कृत लेखक में तो पुरस्कार मिलने के बाद अद्भुत परिवर्तन हुआ। वह चलते-फिरते समय मेरी ही भाँति आँखों पर ऐनक लगाता था, और लिखते समय उतार देता था। अभी हाल में भेंट हुई तो देखा उसकी ऐनक गायब है। मैंने पूछा, "तुम्हारी ऐनक कहाँ गई ?"

उसने कहा, "अब मुझे ऐनक की जरूरत नहीं रही।"

मैंने आश्चर्य से पूछा, "ऐसा कमाल कैसे हो गया ? तुम्हारी आँखें तो काफी कमज़ोर थी।"

उसने कहा, "जब से पुरस्कार मिला है, मेरी आँखें तेज हो गई हैं। वे बहुत दूर-दूर के पुरस्कारों को भी देख लेती हैं। निकट भविष्य में मुझे तीन-चार बड़े-बड़े पुरस्कार मिलेंगे।"

मैं चकित रह गया यह देखकर कि पुरस्कार आँखों को भी तेज कर देता है।

एक अन्य लेखक में पुरस्कार मिलने के बाद कुछ दूसरा ही परिवर्तन आया। वह पढ़ने-लिखने के काम आने वाली ऐनक को पहले बुशर्ट या कोट की जेब में रखे रहता था, किन्तु अब उसने ऐनक की दोनों डंडियों में डोरी बाँधकर उसे गले में लटका लिया है। मैंने उससे एक दिन कहा, "इस तरह लटकी हुई ऐनक से तो तुम्हारा व्यक्तित्व बड़ा भव्य और दिव्य दिखाई पड़ता है।"

वह बोला, "तुम नहीं आप।"

मैंने कहा, "समझा नहीं।"

वह बोला, "भविष्य में आप हमें कृपया आप कहा करें !"

मैंने उसकी पीठ पर हाथ मारते हुए कहा, "यह क्या मजाक है ! दोस्त से आप कहा जाता है भला !"

वह अत्यंत गंभीर मुद्रा में आहिस्ता-आहिस्ता बोला, "देखिये, हमें यह तू-तड़ाक पसन्द नहीं, आखिर वार्तालाप में शिष्ट तो होना ही चाहिए न !"

मैं चुप हो गया। बहुत देर बाद मुझे ख्याल आया, अपना यह दोस्त पुरस्कृत हो चुका है, इसीलिए अब मेरी तरह शोहदा नहीं रहा।

अगर आप चाहते हैं कि मैं भी शोहदा न रहूँ, शिष्ट हो जाऊँ, आपसे सचमुच 'आप' वाली शैली में ही बात करूँ तो कृपया मुझे भी पुरस्कार दिलाने के लिए कोई जुगाड़ कीजिये।

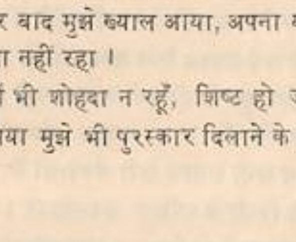

# चले थे सेवाराम जी विधवा आश्रम खोलने

डॉ. रूपनारायण शर्मा

यथा नाम तथा गुण वाली बात सेवाराम पर पूरी तरह लागू होती है। उन्होंने तीस साल तक सरकार की तन-मन से खूब सेवा की थी और सेवा-निवृत्त होते ही समाज की सेवा का बीड़ा उठा लिया। कस्बे की अपनी पुश्तैनी हवेली में रिटायर्ड जिन्दगी गुजारते हुए लगभग दस साल बीत चुके हैं, पर सेवा करने की आदत ज्यों की त्यों बनी हुई है। जब सरकारी सेवा में थे तो सरकार की सेवा का नशा रात-दिन ही चढ़ा रहता था। यह नशा उस वक़्त और भी ज्यादा बढ़ जाता था जब वे नशे में धुत्त हो जाया करते थे। आज वे सत्तर के आसपास पहुँच चुके हैं पर दोनों ही नशे उन्हें चिपटे हुए हैं। पहिले सरकार की सेवा किया करते थे अब समाज की सेवा करते हैं। पहले अंग्रेजी पिया करते थे अब देसी से ही काम चला लेते हैं।

सरकारी सेवा में उन्होंने दाम तो खूब कमाये थे पर नाम कमाने का मौका नहीं मिला। रिटायर होते ही उन पर नाम कमाने का भूत सवार हो गया। शायद यही वजह है कि उन्होंने समाज की निस्वार्थ सेवा करने की प्रतिज्ञा की हुई है। कस्बे में पाँव रखते ही कई समाज-सेवी संस्थाओं से अपने सम्बन्ध स्थापित कर लिए। कई महीने की भाग-दौड़ और अपनी तोड़-फोड़ की नीति पर चलकर उन्होंने कई समाज सेवी संस्थाओं को जन्म भी दिया है। भले ही वे संस्थाएँ चन्दा वसूल करने वाली रसीद बुक में ही क्यों न बन्द पड़ी हों, पर उन्हें जन्म देने का श्रेय तो सेवाराम को ही जाता है। कस्बे की 'बाल कल्याण संस्था' से लेकर 'वृद्ध कल्याण संस्था' तक में उनकी घुसपैठ है। लगभग सभी समाज सेवी संस्थाओं से वे किसी न किसी रूप में जुड़े हुए हैं। किसी के वे प्रधान हैं तो किसी के वरिष्ठ उप-प्रधान। किसी के महामन्त्री हैं तो किसी के मन्त्री। किसी के साधारण सदस्य हैं तो किसी के परामर्शदाता। उनकी भाग-दौड़ की बदौलत ही अनेक संस्थाएँ चल रही हैं और संस्थाओं की बदौलत वे चल रहे हैं। नारी कल्याण से जुड़ी संस्थाओं में उनकी विशेष रुचि है क्योंकि नारी के उत्थान में ही वे देश के उज्ज्वल भविष्य का दर्शन करते हैं।

समाज सेवा के इलावा उनके पास करने के लिए और कोई काम भी नहीं है, बेचारे करें भी क्या! वक़्त गुज़ारने के लिए कोई बहाना तो चाहिए ही और फिर नाम कमाने का भूत भी तो उन पर सवार था। दो शादियाँ की पर समाज सेवा के इस रास्ते पर साथ चलने के लिए एक ने भी साथ नहीं दिया। पहली पत्नी सीता देवी ने इनसे तंग आकर आत्महत्या कर ली थी। वह तो सेवाराम ने ले देकर मामला दबा दिया वरना नौकरी से हाथ धोने के साथ जेल की हवा भी खानी पड़ती। दूसरी शादी उन्होंने सरकारी सेवा की अपनी पुरानी सहयोगिनी

सावित्री से की थी। दफ्तर के कर्मचारियों में तो इस बात की आम चर्चा थी कि सीता की आत्म-हत्या का कारण सावित्री ही थी।

सावित्री द्वारा अपनी सेवा करवाने का सौभाग्य भी सेवाराम को तीन साल तक ही मिला। शराब की ऐसी लत पड़ चुकी थी कि एक भी ऐसी शाम नहीं गुजरती जब प्याले न छलकते। जब तक सावित्री केवल प्रेमिका थी उसने खूब साथ निभाया पर जब पत्नी बन गई तो सेवाराम का घर उसके लिए काल कोठरी बन गया। तीन साल बीतने पर उसने सेवाराम को अलविदा कह दिया। शायद एक-दो साल और साथ निभा लेती पर एक दिन सेवाराम ने शराब के नशे में उसे इतनी बुरी तरह पीटा कि वे बेहोश हो गई। बस अगले दिन ही उसने सेवाराम का घर छोड़ दिया और दूर किसी स्थान की बदली करवा कर चली गई।

आजकल कस्बे की हवेली में सेवाराम अकेले ही रहते हैं। पहली बीवी से दो लड़के हुए थे जो कहीं दूर नौकरी करते हैं। बूढ़े पिता को अपने पास रखने को कोई भी तैयार नहीं था। शराब पीने की आदत, झगड़ालू स्वभाव, झूठ बोलना, दूसरों को ठगना कुछ ऐसी बातें थी कि दोनों पुत्रों में से एक भी उन्हें अपने पास रखने के लिए खुश नहीं था। बेचारे मजबूर होकर कस्बे में आ पड़े। आते ही अपना धंधा शुरू कर दिया। समाज सेवा के नाम पर चन्दा इकट्ठा करने की योजना बना ली।

उन्होंने अनाथाश्रम, वृद्धाश्रम, पाठशाला, गौशाला और न जाने कितने ही आश्रमों के लिए चन्दा इकट्ठा करने की रसीद बुक छपवा ली हैं। गली-गली घूमते हैं। लोग उनके बुढ़ापे पर तरस खा कर रुपया-दो रुपया दे ही देते हैं। अगर कोई आनाकानी करता है तो उसके घर या दुकान पर जम कर बैठ जाते हैं और कुछ लेकर ही टलते हैं। नगर में जब भी कोई नया परिवार आता है तो वे झटपट अपनी दोस्ती गाँठ लेते हैं और दो-चार दिनों में ही बीस-तीस ऐंठने में कामयाब हो जाते हैं। सेवाराम जी की सेवा-भावना के बारे में पूरी जानकारी हमारे एक सहयोगी ने हमें उसी दिन दे दी थी जब हम कस्बे में आये थे। हमें बता दिया गया था कि सेवाराम जी उस बिल्ली की तरह है जो नौ सौ चूहे खाकर हज के लिये निकलती है।

जब वे पहली बार हमसे मिलने आये थे तो उनके हाथ में गौशाला के चन्दे की रसीद बुक थी। आते ही कहने लगे, "हम कस्बे में गौशाला बनाना चाहते हैं...और इस नेक काम की शुरुआत आपसे ही करने का इरादा है।...कम से कम एक सौ एक तो मिलना ही चाहिए।" हमने बड़ी होशियारी से काम लिया और बोले, "भाई साहिब...आजकल गाय रखता ही कौन है...सारे कस्बे में घूम आने पर भी पाँच-सात से ज्यादा नहीं मिलेंगी...आजकल के लोग तो बोतलों और पोलीथीन के लिफाफों का दूध पसन्द करते हैं।" हमारी बात खत्म होने पर उन्होंने बात आगे जारी रखते हुए कहा, "सो तो सब ठीक हैं पर गाय हमारी माता है...भगवान कृष्ण ने भी इनकी सेवा की थी...गौ-सेवा से बढ़कर दूसरा कोई धर्म इस देश में नहीं है।" उनकी बातें बीच में ही काटते हुए हम बोल उठे, "यह सब बातें तो भाई साहिब...आप किसी बच्चे को सुनाएँ ताकि गाय का प्रस्ताव लिखने में उसकी कुछ सहायता हो सके—हमारी मानो गौशाला की बजाय और संस्था खोलने पर विचार करो।"

कुछ दिन के बाद वे छड़ी टेकते-टेकते फिर आ धमके। इधर-उधर की हाँकने के बाद बोले, "भाई साहिब मेरा इस कस्बे में एक विधवाश्रम खोलने का इरादा है।" हमने चुटकी लेते हुए कहा, "इरादा तो बहुत नेक है, पर आपकी उम्र विधवाओं के चक्कर में पड़ने की नहीं है...

भगवान के घर जाने की तैय्यारी करने की है।" हमारा जवाब सुनकर वे कुछ चिढ़कर बोले, "अरे तो तुम बता दो न कैसे करूँ भगवान के घर जाने की तैय्यारी। कौन-कौन-सा सामान बाँधना पड़ेगा ''वहाँ ले जाने के लिए।" हमने झट उत्तर दिया, "कुछ कथा-कीर्तन सुनो —कहीं तीर्थ-यात्रा कर आओ—कुछ दान-पुण्य कर डालो।" हमारी बात खत्म होते ही वे फिर बोल पड़े, "मेरे ख़्याल में तो विधवाओं की सेवा और देखभाल में जो पुण्य मिलता है, वह न तो तीर्थ-यात्राओं से मिल सकता है और न ही दान देने से।" हमने उन्हें समझाते हुए कहा, "भाई सेवाराम जी विधवाओं के आश्रम तो बड़े-बड़े शहरों में ही चला करते हैं। इस छोटे से कस्बे में तो ले-दे कर दस-बारह विधवाएँ होंगी वे भी अपने बेटे-बहुओं के साथ चैन से जिन्दगी गुजार रही होंगी'''कौन आयेगी तुम्हारे विधवा-आश्रम में।" हमारी बात सुनकर अपनी गर्दन हिलाते हुए वे धीमी आवाज़ में बोले, "देखो भाई'''बात तो ठीक है'''शुरू-शुरू में तो कोई इकली-दुकली विधवा ही यहाँ रहने के लिए राजी होगी'''पर पाँच-सात साल में यह तादाद दस-बीस से ऊपर हो जाएगी—" हमने उनकी दुखती रग पर हाथ रखते हुए कहा, "हमें तो शक़ है कि तुम्हारे विधवा आश्रम में एक भी विधवा रहने के लिए मान जाए।" वे हमारी बात ख़त्म होने से पहले ही कड़ककर बोले, "आप इसकी फ़िक्र न करें'''मैंने तो एक विधवा से बात भी कर ली है—उसने वायदा किया है कि विधवा आश्रम शुरू होते ही वह वहाँ आकर रहने लगेगी।" हम सेवाराम के इरादों को अच्छी तरह भाँप चुके थे। उनके मन को कुरेदने की गर्ज से एक सवाल और पूछ लिया। "तो फिर कोई ज़मीन वग़ैरह देख ली है क्या?" सुनते ही खुश होकर बोले, "हमारी गली में ही दो-तीन कमरों का एक मकान बिकाऊ है'''दस बारह हज़ार में बात बन सकती है।" उनकी बात सुनते ही हमने उनके मन को गुदगुदाते हुए कहा, "भाई साहिब '' जब तक विधवाओं की तादाद दो-तीन न हो जाये—आप अपनी हवेली के बाहर विधवा-आश्रम का बोर्ड क्यों नहीं लगा लेते। हवेली में ही विधवा आश्रम शुरू कर लें।"

हमारा सुझाव उन्हें पसन्द आया या नहीं, उन्होंने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। हमारी बात सुनते ही उन्होंने छड़ी उठाई और पल भर में ही बाहर चले गये। उस दिन के बाद से हमारा उनसे सलाम और कलाम दोनों ही बन्द हैं।

# घाट के पंडे

□सुरेश कांत

मेरी बदकिस्मती ही कहिए, जो मैं अपने वेतन-निर्धारण का काम पूरा कराने के लिए संबंधित कार्यालय जा पहुँचा।

सरकारी कार्यालय, जैसा कि आप जानते होंगे, उसे कहा जाता है जहाँ अधिकारी, बाबू, चपरासी आदि पाये जाते हैं। अधिकारी उसे कहते हैं, जो कम-से-कम काम और अधिक-से-अधिक वेतन प्राप्त करता है। जितना बड़ा अधिकारी होता है, उतना ही कम काम और अधिक वेतन उसे प्राप्त करना पड़ता है। शासकीय गीता के अनुसार फल अर्थात् वेतन पर ही तेरा अर्थात् अधिकारी का अधिकार है, मा कर्मण्येषु कदाचन। यही कारण है कि ज्यादातर अधिकारी काम के नाम पर केवल हस्ताक्षर करते हैं और वह भी अपने वेतन, भत्तों आदि की रसीदों पर। 'शादी से पहले और शादी के बाद' की तरह 'हस्ताक्षर से पहले और हस्ताक्षर के बाद' का सारा काम बाबुओं का होता है।

अधिकारी से ठीक विपरीत, बाबू उसे कहते हैं जो काम तो करता है, पर हस्ताक्षर नहीं करता; बल्कि काम चाहे न भी करे, पर हस्ताक्षर कदापि नहीं करता। चूँकि सारी ज़िम्मेदारी हस्ताक्षरकर्ता की ही होती है। और कोई भूल-चूक हो जाने पर—जिसकी संभावना सदैव बनी रहती है—उसी को पकड़ा जाता है जिसके कि हस्ताक्षर पाए जाते हैं, अतः बाबू यथासंभव तो हस्ताक्षर करता ही नहीं, और यदि कभी करता भी है तो उसके हस्ताक्षर उसी तरह सुशोभित होते हैं जैसे कि जल में कमल सुशोभित होता है, अर्थात् जैसे कमल जल में होकर भी नहीं होता, वैसे ही बाबू के हस्ताक्षर भी कागज पर होकर भी नहीं होते। वह तो बाबू का बस नहीं चलता, वरना वेतन भी वह किसी दूसरे के ही हस्ताक्षर से लिया करे।

कार्यालय के उस अनुभाग-विशेष में अनुभाग को सर्वथा निर्जन होने से बचाने का उपक्रम करते हुए, एक बाबू कुर्सी पर इस तरह से विराजमान थे कि इस बात पर क्रिकेट में हार-जीत की तरह शर्त बदी जा सकती थी, दाँव लगाए जा सकते थे और विवाद खड़े हो सकते थे कि वे बैठे हुए हैं या लेटे हुए। जैसे कानून अपनी व्याख्या करने वाले पर निर्भर करता है कि अपराधी को फँसाएगा या निरपराध को, उसी तरह यह भी देखने वाले पर निर्भर था कि वह उन्हें बैठा हुआ समझता या लेटा हुआ। बहरहाल, यह निश्चित था कि वे कुर्सी पर बैठे या लेटे—जैसी भी स्थिति रही हो—ऊँघ रहे थे।

बाबू मोशाय अपने जीवन की उस अवस्था-विशेष में पहुँच चुके थे, जबकि शास्त्रों के

अनुसार व्यक्ति को वानप्रस्थ हो जाना चाहिए। संभवतः वे कार्यालय भी बतौर वानप्रस्थ ही आते थे। यानी, वन में न गए, दफ्तर आ गए। करना वहाँ भी कुछ नहीं था, यहाँ भी कुछ नहीं था। वृद्ध होने के अलावा वे दुबले-पतले भी काफी थे, जो की सोने में सुहागे की तरह जान पड़ता था। ऐसा प्रतीत होता था, गोया हड्डियों पर कोई पुरानी, जर्जर खाल लपेट दी गई हो। सामने के दाँत तलाक ले चुके थे। चेहरा खसखसी दाढ़ी-मूँछ से युक्त था। बाल सूखे और बिखरे थे। वस्त्र सिकुड़े-सिकुड़े थे। ऐसा जान पड़ता था, कि या तो वे कब्र से निकल कर सीधे इस कुर्सी पर आ विराजे हैं, या कुर्सी से उठने के बाद सीधे कब्र की ओर प्रस्थान करने वाले हैं।

"बड़े बाबू!" मैंने उनकी नींद में खलल डाला।

बड़ी कठिनाई से उनकी अंदर की ओर धँसी आँखें खुली, "क्या है?"

आवाज़ में रुखाई थी। बोलने से मुँह के अंदर की हवा निकली तो उसके साथ लार की चंद बूँदें भी टपक पड़ीं। इस अति सूक्ष्म संवाद-अदायगी के तुरंत बाद उन्होंने फिर आँखें मूँद लीं। गरदन भी पूर्ववत् एक ओर को ढुलका दी।

मैं गरजमंद था, अतः मुझे उन्हें दोबारा टोकना ही पड़ा, "बड़े बाबू, वेतन-निर्धारण करवाने आया हूँ। स्लिप मिल जाएगी तो निकल आएगा।"

इस बार वह आँखें मूँदे-ही-मूँदे बोले, "तो मैं क्या कर सकता हूँ?"

मामूली काम था। उन्हें बस प्रपत्र-६ पर मूल वेतन, महँगाई भत्ते की राशि एवं अन्य भत्तों का अंकन कर के दे देना था।

"स्लिप दे दीजिए," मैं ने हार न मानी।

"प्रार्थना-पत्र लिखकर दे दो", कहकर वह फिर ऊँघ गए।

तभी चपरासी ने मेरा संकटमोचन किया, "आप किस चक्कर में पड़े हैं, यह तो पागल है। आप मोहनजी से मिल लीजिए।" चपरासी, इस प्रकार, सरकारी दफ्तरों में संकटमोचन के रूप में उपस्थित रहते हैं—हालाँकि उपस्थित रहने के बारे में पूरे विश्वास के साथ नहीं कहा जा सकता। तुलसीदास जी ने पता नहीं क्या सोचकर हनुमान-चालीसा लिखी, जबकि वे चपरासी-चालीसा लिखकर ज्यादा नाम कमा सकते थे, क्योंकि हर लिहाज से चपरासी हनुमान जी से ज्यादा संकटमोचन पाया गया है। वह अधिकारी के संकटों का भी मोचन करता है, और बाबू के संकटों का भी। अधिकांश संकटों का कारण भी वही होता है—यह अलग बात है। हर प्रकार के सही-ग़लत कार्यों के लिए चपरासी ही उन्हें आड़ उपलब्ध कराता है। चपरासी के माध्यम से ही ऊपरी आमदनी उचित अंशों में बाबू से लेकर अधिकारी तक सुचारू रूप से वितरित होती है। चपरासी ही अधिकारी के अपने स्टेनो से अवैध संबंधों को छिपाता है, वही बाबू द्वारा दफ्तरी कामों में किए गए घापलों को उजागर नहीं होने देता। वही अधिकारी और बाबू मैनेजमेंट और स्टाफ के बीच सौहार्दपूर्ण संबंध कायम किए रहता है। दोनों के बीच वह सेतु का कार्य करता है। अधिकारी अथवा बाबू द्वारा चपरासी की शान में कोई गुस्ताखी हो जाने पर यह सेतु भड़भड़ाकर गिर भी जाता है—यह पुनः एक अलग बात है। दो पृथक् दिशाएँ जिस प्रकार सेतु से अविच्छिन्न रूप से जुड़ी होती हैं और परस्पर संबंध बनाए रखने के लिए सेतु को मोहताज होती हैं, उसी प्रकार अधिकारी और बाबू नामक दो विपरीत दिशाएँ भी चपरासी नामक सेतु से अविच्छिन्न रूप से जुड़ी होती हैं और परस्पर संवाद बनाए रखने के लिए उसका मुँह

जोहती हैं। अधिकारी और बाबू दोनों उसकी मुट्ठी में होते हैं। इस प्रकार चपरासी सरकारी दफ्तरों का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व होता है। पदेन भले ही वह अधिकारी या बाबू से छोटा होता हो, असलियत में वह इन दोनों से ही बड़ा होता है, क्योंकि पत्र-पुष्प-नोटादि से उसे प्रसन्न न किया जाए तो आगंतुक के लिए अधिकारी महोदय केबिन में होकर भी नहीं होते, और अगर होते भी हैं तो खाली बैठे मक्खी मारते हुए भी अतिव्यस्त हो सकते हैं या फिर किसी जरूरी मीटिंग में गए हुए हो सकते हैं। और यदि उसे प्रसन्न कर लिया जाए तो सारी दफ्तरी बाधाएँ उसका नाम लेते ही दूर हो जाती हैं, संकट मिट जातेहैं। देवताओं में जैसे गणेश जी का सर्वप्रथम स्थान है, कार्यालयीन देवताओं में वैसे ही चपरासी का सर्वप्रथम स्थान है।

"श्रीचपरासीय नमः" का जाप करते हुए मैंने मोहन जी को देखने के लिए इधर-उधर निहारा, तो रहस्यपूर्ण मुस्कान बिखेरते हुए चपरासी देव ने पुनः मेरा संकट-मोचन किया, "इतना भी नहीं जानते और चले आए। अरे, बाबू लोगों का समय सामने वाले होटल में गुजरता है।"

मैंने सोचा, अगर बाबू लोग न होते, तो हिंदुस्तान में चाय की खपत काफी कम हो जाती। कई जलपानगृह वाले भी तगड़ा घाटा उठा जाते।

उस कार्यालय के आस पास अन्य अनेक कार्यालय थे—माल विभाग, लेखा विभाग, बोर्ड कार्यालय आदि। हर कार्यालय के तीन चौथाई बाबू हर समय उस होटल की शोभा बने रहते थे। उनकी कुर्सियाँ पूरी तरह परित्यक्ता नायिका-सी पड़ी रहती थीं।

मोहनजी मिले। काफी पूछताछ और खोजबीन के उपरांत उनके दर्शन हुए। वह बड़े बाबू से बिलकुल उलटे थे। गंजा सिर, साफ दाढ़ी एवं गोलमटोल शरीर। चाय पी रहे थे। दो प्लेटें मेज पर रिक्त पड़ी थीं। जाहिर था, उनमें रखे सामान का भक्षण किया जा चुका था।

मेरे मेज के पास पहुँचते ही उन्होंने निगाहें उठायीं, "आप?"

मैंने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया, "सोनावाली में प्रधानाध्यापक हूँ।"

"वहाँ पहले राममनोहरसिंह था। साला, बड़ा हरामी था, कमीना! आप तो बहुत भले लगते हैं।" चाय का घूँट सटकते हुए मोहन जी ने राममनोहर को गालियाँ सुनाकर मेरा स्वागत किया और फिर उठ कर बाहर आए।

"हुक्म कीजिए," बाहर आकर मोहन जी, विनम्र स्वर में, तपाक-से बोले।

"वेतन निर्धारण का प्रपत्र लेने आया हूँ।" मैंने अपनी बात कही।

वह मुस्कराए, "आप तो बहुत शरीफ आदमी मालूम होते हैं। कुछ चाय-वाय हो जाए।"

मरता क्या न करता। मोहन जी के साथ फिर अन्दर जा पहुँचा। उन्होंने चार रस-गुल्ले और दो समोसे मँगाए। बेदर्दी से उनका भक्षण करते हुए बोले, "साला, बहुत अच्छा बनाता है। आप भी लीजिए।" पर मैंने चाय पर ही संतोष किया।

तृप्त होकर वह मेरे साथ बाहर निकले ही थे कि एक महाशय और आ गए, बोले, "बाबूजी, आज काम जरूर करवा दीजिए।"

"जरूर।"

"चलिए, पहले चाय पी लीजिए।" उन्होंने आग्रह किया।

मोहन जी मुझसे पान लगवाने को कहकर फिर होटल के अन्दर चले गए।

मैंने पान खाया। उनका बंधवाकर रख लिया। उन्हें बाहर आने में कुछ देर लगी, तो मैं फिर होटल में जा पहुँचा। मोहन जी वही सब तर माल फिर उड़ा रहे थे।

निबट कर मेरे साथ बाहर आए। पान खाया। हम तीनों कार्यालय के द्वार तक पहुँचे ही थे कि एक अन्य महाशय मिल गए।

बाबूजी ने उनके कंधे पर थपकी दी, "चाय-वाय तो पिलाते नहीं कभी और काम··"

इस पर वह महाशय तपाक से बोले, "चलिए··"

"आप दोनों कार्यालय में बैठिए," मोहन जी ने हमसे कहा, "मैं अभी आया।"

मैं कार्यालय के द्वार पर खड़ा-खड़ा सोचता रहा कि आखिर बाबूजी के आमाशय की लंबाई-चौड़ाई क्या होगी। खैर, मैं कल्पना ही कर सकता था, सही बात तो डॉक्टर ही बता सकता था।

मेरे वेतन में पच्चीस रुपये की बढ़ोत्तरी हुई थी और साढ़े दस रुपये वहाँ खर्च हो चुके थे।

निवृत्त होकर, सुरती वाला पान मुँह में दबाए बाबूजी सीट पर आए।

बाबूजी ने उन दोनों से पाँचवें दिन आने को कह दिया। काम हो जाने का पूर्ण आश्वासन दे दिया, यानी उनकी फाइल भी दबा दी। वे दोनों महाशय अपनी बात कहकर चले गए। मोहन जी ने बहुत धीरे-धीरे मेरा वेतन-निर्धारण-प्रपत्र भरा। फिर बोले, "बच्चों के लिए मिठाई···" मैंने चुपचाप दस का नोट उन्हें और भेंट किया।

वह उठकर अधिकारी के केबिन में गए। वहाँ से लौटकर बोले, "साहब कहीं बाहर चले गए हैं। कल दस्तखत जरूर हो जायेंगे।" फिर धीरे से कहा, "कल साढ़े ग्यारह बजे आ जाइए, काम जरूर हो जाएगा। यहाँ मत आइएगा। उसी होटल में मिल लीजिएगा।"

मैं सोचने लगा, कल साढ़े दस रुपये का और खून होगा। अभी सोच ही रहा था कि वहाँ एक महाशय और आ गए।

मोहन जी ने तपाक से उनका स्वागत किया और उनसे बातें करते-करते फिर उसी होटल में जा विलीन हुए।

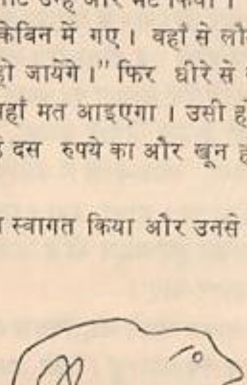

भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार से वर्ष १९८६ में सम्मानित लब्धप्रतिष्ठ ओड़िया कवि **डॉ. सच्चिदानन्द राउतराय** की तीन कविताएँ। अनुवादक : डॉ. राजेन्द्रप्रसाद मिश्र।

---

# शववाहक का गाना

मैं अपना शव
अपने ही कंधे पर लादे
कर रहा हूँ विश्व भ्रमण
बनारस, गया, गंगा
मक्का, मदीना
और जेरूसेलम—
जहाँ तीन वृक्ष
(पाप और पुण्य के)
पल्लवित हैं।
लेकिन मोक्ष कहाँ है ?
कौन है मुक्तिदाता ?
कुछ भी तो समझ नहीं पाता।
देखता हूँ महज़ पुरोहितों के दल
कहते हैं यह करो, वह करो,
वह मत करो।
सभी मेरे अपने धर्म के विपरीत हैं॥

मेरा जो मर गया—
जीने का जिसे अधिकार नहीं।
उस लुप्त समय की पीकदानी के नीचे,
जो जीवित है वह चिर सजीव है,
आज और आगामी कल की
वह एक शुरुआत, एक बुनियाद है,
वह क्षय नहीं होता

क्योंकि वह काल से परे है
प्रगति में वही सहायक है ।
जो अचल है वही बंधन है ।

बाँधे रखता है मुझे एक ही जगह,
जो उदास और केन्द्रच्युत है ।
भला बताओ तो
कैसे जीएगी
समय की वह अपहृत
श्वेत, नपुंसक कुलीनता ।।
जिसके लिए मृत्यु स्वयंसिद्ध है
क्योंकि वह बंधन है ।
मेरी मुक्ति मेरे हाथ में है
वह चिर गतिशील है, अचल, स्थिर नहीं
जीवन के महास्रोत के साथ
वह एक पवित्र संगम है ।।

मेरा शव मेरे कंधे पर है
वह काल का अवशेष है :
वह क्षयशील है
क्योंकि वह आगे नहीं बढ़ता
पड़ा रहता है बहुत पीछे
गतायु जंजाल ।।

खुद से पूछता हूँ मैं कौन हूँ ।
मैं तो एक हूँ, और मैं ही अनेक हूँ
मुझमें छिपी हैं अनेक
महास्मृतियाँ
जो महाजीवन के काल से परे हैं
पूरी आयु बटोरकर ।
मैं तो कालजयी हूँ ।
अपने शव को फेंक देता हूँ अतीत के गर्भ में
सामने के महास्रोत में मैं बह जाता हूँ ।।

# जन्म दिन : मृत्यु दिन

जिस दिन मैं जन्मा
उस दिन सभी बच्चों ने
आकाश की ओर हाथ बढ़ाकर कहा,
वह हमारी तरह बनेगा
दुर्दांत जानवरों को पत्थर मारेगा।
और खेलेगा उनकी पूंछ पकड़कर
साधु-सन्यासियों को देख
डर कर भाग जाएगा यह सोच
कहीं वे पकड़कर न ले जाएँ॥

जिस दिन मेरी मृत्यु होगी
उस दिन प्रबल तूफान से
ठप्प पड़ गए होंगे शहर के सारे यान-वाहन,
बंद हो गए होंगे सारे अख़बार,
कारखाने, हड़ताल से।
हड़ताली श्रमिक अपनी कठोर मुट्ठी में
दबोचे होगा मालिक का गला,
चीत्कार कर रहे होंगे सभी
बोनस और ओवर टाइम देख-देख

कोई ख़बर नहीं छपेगी
मेरी मृत्यु की,
कोई जुलूस नहीं।
सिर्फ़ शापग्रसित नर्सें आँसू बहा रही होंगी
मेरे शव पर॥

# पता

कहो तो मुझे कौन बताएगा मथुरा का पता,
कहो नगरवासियो
मैं एक ब्रजवासी हूँ, आया हूँ वृन्दावन से
गोकुल जिसका पोस्ट ऑफिस है
मथुरा जिसका ज़िला ।।

सुना है यहाँ कोई एक राजा थे
श्याम वर्ण के
वे सोलह सौ कमल
एक साथ खिला सकते थे सहस्र किरणों से।
रचते थे अनेकों आकाश
विचित्र वर्णों के
भिन्न-भिन्न ऋतुओं के, भिन्न-भिन्न स्वरों के।
किन्तु नदी थी एक—
अंतरंग नदी।

मैं एक ब्रजवासी हूँ
गोकुल जिसका पोस्ट ऑफिस है
ज़िला जिसका मथुरा,
सदर महक़मा।

मैं चाहता हूँ बस एक चीज़ जानना।
मेरी चाह बस यही है
उड़ते पताका सहित एक घर का नम्बर।
जिसके भीतर कक्ष
कक्ष उसके भीतर।
उसके भीतर……।।

# दिल ही तो है न संग

□ नाहिब अतहर

पक्की हवेली के बड़े आँगन में बहुत-सी चारपाइयाँ बिछी हुई थीं। हवा के नर्म-नर्म झोंकों ने दिन भर के थके हारे लोगों को नींद की गोद में पहुँचा दिया था मगर फरजाना अपनी चारपाई पर लेटी करवट बदल रही थी, पछता रही थी कि दिन में क्यों इतना सोई कि अब नींद का पता नहीं। रात के सन्नाटे से उसे डर लग रहा था। उसने आँगन में नजर दौड़ाई, आयशा फूफी अभी नमाज पढ़ रही थी। उसको कुछ ढाँढस बँधी। साफ़ निखरे हुए आसमान पर तारे हँस रहे थे। इस अद्‌भुद दृश्य को देखते हुए फरजाना को कल की अधूरी कहानी याद हो आई जो आयशा फूफी सुना रही थी और वह सुनते-सुनते बीच में ही सो गई थी।

कहानी किस मंजिल तक पहुँची थी वह याद करने लगी। हाँ, तो इतनी लाड़ली बेटी के जब विवाह का समय आया तो एक बहुत बड़े राजा से इसकी बात पक्की कर दी गई। जो शक्ल-सूरत और खूबसूरती में किसी पहलवान से कम नहीं था। अगर इतना ही होता तो कोई बात नहीं मगर वह अपनी क्रूरता के लिए भी विख्यात था। राजकुमारी ने जब यह सुना तो उसका दिल काँप उठा, मगर कौन समझता था उसके दिल का दर्द, किसे परवाह थी जो उसके हृदय में झाँककर देखता कि वहाँ कैसी व्याकुलता छिपी हुई है। वहाँ तो विवाह की जल्दी थी और शादी होनी रीति-रस्म के अनुसार। राजकुमारी का सोलह श्रृंगार कर उसे डोले पर बैठा दिया गया। वह और तो कुछ न कर सकी बस उसकी आँखों मे आँसू गिरते ही रहे—पूरे रास्ते वह मोती गिरते चले ही गए। फरजाना सोचने लगी कि वह आँसू सचमुच मोती के होते तो क्या इस प्रकार एक चाँदनी न बन जाती।

उसने बड़े गौर से आकाश पर छिटकी चाँदनी को देखा जो अथाह नन्हें-नन्हें सितारों से भरा हुआ था। राजकुमारी की शेष कहानी सुनने के लिए उसका जी मचल गया, उसने सोचा न जाने अत्याचारी राजा ने बेचारी के साथ कैसा व्यवहार किया होगा? उसके धैर्य का बाँध टूट गया। "अल्लाह, फूफी अब आयेंगी भी या उस अभागी राजकुमारी के लिए मैं सारी रात जागती रहूँ।" आखिर फिर क्या हुआ था? वह रुआँसी हो गई जब देखा कि फूफी उसके पास आने के बजाय चारपाई की तरफ बढ़ गई। अपने छोटे बेटे सलीम को वह बहुत चाहती थी और हर रोज दोआयें करना आयशा फूफी का नियम बन गया था।

वह बिस्तर की शिकन ठीक कर रही थी। चाँद की रोशनी में उसका चेहरा बड़ा उदास लग रहा था और बड़ी-बड़ी आँखों में एक ऐसी किरण छिपी हुई थी जो फरजाना को बेचैन कर रही थी। आयशा फूफी के चेहरे को देखते हुए इसके दिल में एक नई इच्छा जीवंत हो

उठी, एक नया प्रश्न उभरा, आखिर उसने पूछ ही लिया, "फूफी इतनी गम्भीर क्यों रहती हैं आप ?"

"सलीम भैया के अब्बा आते क्यो नही ? क्या वह सबको बिलकुल भूल ही गए ?" इतने प्रश्न एक साथ सुनकर आयशा फूफी परेशान होकर उसकी तरफ देखने लगी। उनकी आँखों में ऐसे दैन्य का भाव देखकर फरजाना स्वयं ही अपने प्रश्नों पर शर्मिन्दा होने लगी ! उसने तो अपने दिल की कठुता मिटाने के लिए अंधेरे में एक तीर चलाया था कि शायद कहानी का सिरा हाथ में आ जाये। उसे क्या मालूम कि अंधेरे में चला हुआ तीर सीधा इनके दिल में उतर जायेगा। फूफी के होंठ काँपने लगे वह धीरे से बोली, "फरजाना, मेरी जान ! ऐसे सवाल न किया कर मेरी बच्ची। वह कभी न कभी तो आयेंगे ही, जब उनको अपनी ग़लती का आभास होगा, जब नागिन के डसने का जहर उतरेगा।" फरजाना ने तपाक से पूछा, "क्या उनको किसी नागिन ने डस लिया था ?" आयशा फूफी के होंठों पर हल्की मुस्कान आ गई।

"हाँ, बेटी, वह नागिन ही तो है जिसने तुम्हारे फूफा को हमसे अलग किया है।"

फरजाना खीझकर बोली, "अल्लाह अब पहेलियाँ तो न बुझाइये, बता भी दीजिये पूरी बात।" उसके दिल में ऐसी कुरेद पैदा हुई कि जब तक आयशा फूफी से इनकी पूरी कहानी न सुन ली उनको सोने नहीं दिया।

दिल का भार हल्का हुआ तो वह सो गई। लेकिन उसके दिल की कटुता मिटने के बजाय और बढ़ गई थी ! वह करवटें बदलते हुए सोचती रही। इस घर में आयशा फूफी के लिए ऐसी छाँव कहाँ है जो समय की सर्दी व गर्मी को रोक सके। वह तो कुछ ऐसा महसूस करती होंगी कि जैसे खुले आसमान के नीचे बैठी हों और सर पर कोई साया न हो। वह हर समय दूसरों के दिल बहलाने में लगी रहती हैं, हरेक की सेवा के लिए तैयार रहती हैं। मगर यह कौन देखे कि पति के विश्वासघात ने उनके हृदय में कितने घाव पैदा किये हैं ! इनकी बातों में कितनी नर्मी और मिठास थी जो सबका दिल मोह लेती हैं, मगर फूफा जान का दिल वह क्यों न जीत पाईं ? कैसे उन्होंने दूसरी शादी कर ली। फरजाना उलझती रही, पुरुषों के स्वभाव को जानना अभी उसके समझ के बाहर की बात थी। अचानक रात के सन्नाटे में चौकीदार की आवाज गूँज उठी तो उसने चादर तान ली और आँखें बन्द करके सोने का उपक्रम करने लगी। पक्की हवेली की दीवारें और दरवाजे अंधेरे की चादर में लिपटे जैसे धीरे-धीरे कराह रहे हों।

वह सोच रही थी कि शमा जलती है, दूसरों को उजाला देती है, चुपचाप जलकर मिट जाती है, धीमी जलन में कैसी तपिश होती है जो मौत का संदेश लिए होती है फिर भी जलना उसका भाग्य बन गया है। हवेली में आयशा फूफी का अस्तित्व भी शमा की तरह था। हल्की आँच में उनका अस्तित्व पिघलता जा रहा था। जीवन के एकांकी सफर ने उनको थका दिया था। समय से पहले वह बूढ़ी और कमजोर हो गई थीं। इनकी शक्ति खत्म होती जा रही थी। फरजाना के लिए यह हालात बड़ी परेशानी के थे, मगर वह आयशा फूफी के लिए कर भी क्या सकती है ?

जकिया की शादी हो गई थी और वह अपने घर-बार की हो चुकी थी, मगर सलीम की पढ़ाई का बोझ उनके नाजुक कन्धों पर था। पति के रहते एक विधवा जैसा जीवन व्यतीत करना कितना पहाड़ होता है, यह कोई उनके दिल से पूछता ! मायके में रहना इनको एक आँख

न भाता। सलीम और जकिया बिना बाप के बच्चे थे जो दूसरों की दया और कृपा पर पले। इसलिए उसकी पढ़ाई के लिए किसी दूसरी की कृपा पर निर्भर नहीं थी। अपने हिस्से की जमीन और जायदाद तथा वह अपनी जान तक न्योछावर करने को तत्पर थी! आयशा बेगम तो बाप की लाड़ दुलार से वंचित बेटे की माँ भी थी।

हवेली के एकान्त में फरजाना का जी घबरा जाता, सलीम भैया अपना रोब गाँठने के लिए हर समय गम्भीर बने रहते। एक आयशा बीवी थी या दादी अम्मा, इनसे वह भला कब तक बातें करती? वह बार-बार सोचती, मेरे पढ़ने का शौक स्वयं उसके लिए परेशानी का कारण हो गया है। रफ़त और यासमीन मजे से अम्मीजान के साथ रहती है। मैं छुट्टियों की इन्तजार में यहाँ पड़ी सूख रही हूँ। वह हथेली पर चेहरा टिकाये दूर आकाश में आज़ादी से खेल रहे पक्षियों को देख रही थी। विदा होती हुई बहारों की एक उदास शाम थी यह सब फरजाना को इतना भला मालूम पड़ा कि उसकी आँखों की कोर भीगने लगी। वह भागकर अपनी किताबें उठा लाई। अब दो काम ही रह गए थे। यहाँ होमवर्क करना था, दादी अम्मा की हमजोली बनकर उनके और अपने दुखड़े सुनाना, स्कूल की बातें करना। इस समय वह उन्हें कोई नया किस्सा सुना रही थी जब सलीम किसी चीज की तलाश में घूम रहा था। उसके एक हाथ में धुली हुई कमीज और बटन था, शायद सुई-धागे की तलाश में दादी अम्मा की डलिया टटोल रहा था, और जब दोनों चीजें मिल गई तो खुद ही बटन टाँकने बैठ गया। फरजाना बड़ी लापरवाही से सौंफ-इलायची चुनचुनकर खाती रही। आखिर दादी अम्मा को ही तरस आ गया बोली, "ऐ लड़की ऐसी भी क्या डिठाई, वह बटन टाँक रहा है और तू बैठी है, इतना नहीं होता कि बटन टाँकदे, मेरी आँखों से तो अब इतना सूझता भी नहीं।" उन्होंने दुपट्टे से आँखें साफ़ करते हुए कहा। फरजाना चिढ़ गई, ऐसी भी क्या खामोशी, बोलने से क्या किसी का कुछ घटता है? मैं क्यों कहूँ, हाथ तो काँप रहे हैं और चले हैं बटन टाँकने। सचमुच फूफी के लाड़-प्यार ने इनको कहीं का नहीं रखा। वह दादी अम्मा के जलाने को धीरे-धीरे कह रही थी। फिर जो उधर निगाह डाली तो खून की कई बूँदें कमीज पर टपक चुकी थीं और एक बड़ी-सी बूँद सलीम की अँगुली पर चमक रही थी, वह कूदकर एक ही छलाँग में वहाँ पहुँच गई।

"लाइये इधर हाथ करिये।" फरजाना ने जैसे हुक्म चलाया।

सलीम मुस्कराकर बोला, "अब क्यों आई, पट्टी बाँधना तो मुझे भी आता है।"

"तो बटन टाँकना भी सीख लीजिये।" अँगुली पर पट्टी बाँधते हुए फरजाना ने एक सवाल जड़ दिया।

आयशा फूफी का दुपट्टा रंगते हुए आज न जाने क्यों फरजाना को झुंझलाहट सवार थी। वरना उनके दुपट्टे वह बड़े शौक से रंगा करती थी। फूफी भी सन्देह के कारण सफ़ेद दुपट्टा नहीं ओढ़ती थी, मगर चेहरे पर विधवा जैसी उदासी बरसती है। फूफी ने शोक में अपनी यह हालत बना रखी है, उधर मियां ऐसे निकले कि पलट कर भी नहीं देखा कि वह जीवित है या मर गई। वैसे मर तो वह उसी दिन गई थी जब उनके मियां उन्हें छोड़कर चले गए थे! आयशा फूफी तो सलीम की सूरत देख-देखकर जी रही थी क्योंकि वही उनके दिल का टुकड़ा था जिससे उन्हें बहुत सारी आशायें थीं। यह सब वह सोचकर परेशान होने लगी तो उसने ऐसी बातें न कहने का निश्चय किया।

आँगन में आयशा फूफी ने सलीम को अपने पास बुलाकर बैठाया और पूछने लगी, "क्यों

तुझे अपने पिता की याद आती है ?" वाक्य पूरा भी नहीं हुआ था कि एक पड़ोसी ने आवाज दी, "तार आया है, ले जाइये !"

आयशा बीवी तेजी से उठीं, तब तक तार खोल—लिखा था, "सलीम के पिता की हालत खराब है।" इतना सुनना था कि आयशा बीवी के होश उड़ गये, चेहरे पर कई भाव एक साथ उभरने लगे। उन्होंने जल्दी ही वहाँ पहुँचने की तैयारी शुरू कर दी।

···और जब वह वहाँ पहुँची तो उनके पति से आँखें चार हुईं। दोनों की आँखों में आँसुओं का समुन्दर उमड़ चला। आयशा बीवी बेतहाशा लिपट गईं···।

**अनुवाद : कुलदीप कपूर**

# अपना अपना हिस्सा

☐ बरियाम सिंह संधू

"बचनो !...अरी, बाल्टी तो ले आ जरा।" आवाज लगाकर घुद्दू, भैंस की पीठ थपथपाकर नीचे बैठ गया।

बचनो, उसकी छोटी बहन, माँ की मौत पर मायके आयी थी और तब से वहीं थी। वह बाल्टी लेकर आयी तो कहने लगी, "हैं वीरा, देख न, दोनों बड़े भाई पहुँचने ही वाले हैं...बड़ा भाई तो रात को ही करमसिंह के पास अड्डे पर आ गया होगा...देख न, जो भी हिसाब-किताब बनता है तू उनसे निबेड़ ले...देख न, माँ का इकट्ठ तो अब करना ही है...उसके फूल भी हरिद्वार ले जाने हैं...सियानों ने सही कहा है कि हिसाब तो भई माँ-बेटी का !... देख न..."

घुद्दू खीज गया...."यह आ गयीं बड़ी बेबे मुझे सीख देने वाली !".. पर वह छोटी बहन का लिहाज करके जहर का थूक निगल गया—"कल की भूतनी...!"

बचनो बोलती जा रही थी, "देख न, मुझे पता है कि तेरा हाथ तंग है...पर ये काम भी तो जरूर करने हैं...मैंने तो दोनों बड़े भाइयों को कहा भी था...भई, तुम्हें पुगता है...तुम्हारे हाथ खुले हैं...तुम कर दो...देख न, वे बोले—हम तो खाने भर को दाने ही ले जाते हैं...जमीन पर वह मुफ्त में ही खेती कर रहा है...देख न, अब सारे तेरे भाइए (बहनोई) जैसे कैसे हो जायें...सारे मुल्क में बहनें अपना हिस्सा लेती जा रही हैं...पर उसने कभी एक बार भी नहीं कहा..."

घुद्दू जैसे गले में फाँस दिये बैठा था, वह चीख ही पड़ा, "ओ, तू भी लेजा और वे भी ले जायें...जमीन ससुरी ने मुझे कौन-सा कारू का बादशाह बना दिया !"

ऊँची चीख सुनकर और जोर से थन पकड़े जाने से भैंस भुड़क गयी। घुद्दू कूल्हों के बल जा गिरा। बचाते-बचाते भी थोड़ा दूध बिखर गया। उसने उठकर फावड़ा उठा लिया और 'ताड़-ताड़' भैंस पर बरस पड़ा।

"देख न...उलटा काट खाने को दौड़ता है...मैंने कोई बुरी बात तो नहीं कही...!" बड़बड़ाती बचनो 'भैं-भैं' करती हुई बाल्टी उठाकर चली गयी।

तभी दूर से आती मोटर साइकिल की आवाज सुनायी पड़ी। घुद्दू डंगरों को यों ही हाथ मारने लगा।

घुद्दू तीनों भाइयों में सबसे छोटा था। बड़ा सवर्णसिंह अपनी हिम्मत से पढ़-लिखकर ओवरसीयर लग गया था और अच्छी कमाई कर लेता था। शहर में उसने कोठी भी बना ली थी और उसके दोनों बेटे भी अच्छी-अच्छी नौकरियों पर लग गये थे। मंझला करमसिंह घुद्दू से

दो साल बड़ा था। पढ़ाई में नालायक और शरारतों में नंबर एक। जवानी चढ़ते ही वह पांडी बनकर तस्करी का माल ढोने लगा और क्या से क्या बन गया। पर धुद्दू जिस्म का ताजा और हाड़-पाँव का खुला था। वह अखाड़े में बस, पहलवानी ही करता रह गया।

कुत्तों की भौं-भौं के साथ-साथ आवाज़ समीप आती गयी। और थोड़ी ही देर बाद मोटर साइकिल उनके दरवाज़े पर आ खड़ी हुई। उसके दोनों बड़े भाई सवर्णसिंह और करमसिंह अंदर आ गये। सवर्णसिंह ने ऐनक उतारी, उसे रूमाल से साफ़ किया और फिर दस्ताने पहने हाथों से ओवरकोट पर से सीलन पोंछता हुआ ड्योढ़ी में बिछे अपने पिता बिशन सिंह के बिस्तरे की तरफ बढ़ गया। छोटे करमसिंह ने अपनी लोई की बुक्कल सँवारी और तिल्लेदार जूती के नीचे लगे गोबर को उतारने के लिए पैर को चबूतरे के किनारे से घिसते हुए घुद्दू से बोला, "ओ आ भई पहलवान, कुछ मशवर कर लें। भाई साहब से भी रोज-रोज छुट्टी नहीं ली जाती···मुझे भी सौ काम रहते हैं·· माँ के फूल भी ले जाने हैं हरिद्वार···अगर तुझे जाना है तो ठीक और मुझे जाना है तो ठीक···!"

"आया।" घुद्दू ने लापरवाही से जवाब दिया और खूँटे से बँधी रस्सी खोलता हुआ वह दोनों भाइयों से होने वाली बातचीत के बारे में सोचने लगा। उनके इरादे भाँपकर वह झुंझला उठा···और तिस पर छोटी बहन बचनो!···ऊफ्!···ये कैसे रिश्ते हैं?

सवर्णसिंह से वह इसलिए भी खफा था कि वह नाते-रिश्तेदारों के सामने उसे यतीम-सा बनाकर पेश करता था। साल भर के दाने ले जाकर भी वह ज़मीन के बारे में यों जतलाता था, जैसे घुद्दू को दान कर दी हो। ज़मीन घुद्दू से छोड़ी नहीं जाती थी या छोड़ने से उसका गुजारा नहीं चलता था। पर इस तरह मुफ्त के अहसान से दबा भी नहीं जाता था। उधर करमसिंह तो बराबर का हिस्सा बाँटकर ले जाता था और एतराज भी करता था कि घुद्दू के हाथ में बरक़त नहीं, उसे हिस्से में से कुछ नहीं बचता। अभी कल माँ के फूल चुनते हुए वह बहनोई को कह रहा था, "भाइया, इस बार मेरी सलाह है कि गाँव वाली दो किले खुद ही ट्रेक्टर से जोतकर भैंसों के लिए चारा बो दूँ। इसमें से बचता-बचाता तो कुछ है नहीं।"

"ख्याल बुरा नहीं··· ख्याल बुरा नहीं·· अच्छा रहेगा···" बहनोई ने राय दी थी।

घुद्दू को मालूम था कि वे यह सब उसे सुनाकर कह रहे थे। वह अंदर ही अंदर भरा बैठा था। फिर भी बोला, "कुछ नहीं। ज़मीन तो पहले ही कम थी, अगर यह दो किले भी हल के नीचे से निकल गयी तो?" उसने चिंतित होकर कहा।

खुद तो वह बात करते हुए झिझकता था। ले-देकर उसके बिचौलिए बहन, बहनोई और बापू ही थे, जिन्हें वह अपना दुःख बता सकता था। उनसे मदद माँग सकता था। पर बहनोई तो उसके सामने ही ज़मीन छुड़ाने की सलाह दे रहा था। फिर बचनो तो उसकी क्या ही मदद करेगी। उसे तो वैसे भी शिकायत रहती है। बड़े भाई और भाभियाँ उससे अच्छा बरतते हैं। दुख-सुख बाँटने के लिए आते-जाते रहते हैं। आड़े वक़्त पर काम भी आते हैं। साल-छमाही सूट भी बनवा देते हैं। पर घुद्दू है कि मुश्किल में मदद तो क्या करनी···देख न मिलने तक नहीं आता।

मेरा मन भी तो होता है कि बहन-भाइयों में उठूँ-बैठूँ। पर··! सोचकर वह बचनो पर ताव खाने लगा···उस दिन माँ का संस्कार करने से पहले स्नान करवाने के वक़्त, माँ के कानों में पड़ी सोने की बालियाँ इसने उतारकर मंझली भाभी के हवाले कर दीं। भला क्या उसने

बनवाकर दी थी, जो ले ली ?···

एक पल उसे माँ पर भी खीज आयी। मगर फिर माँ का झुर्रियों-भरा चेहरा और गहरी चमकती आँखें याद आने पर वह माँ के प्यार में डूब गया। एक माँ ही थी, जिसने उसे अथाह प्यार किया था। सदा उसके हक में डटकर बोली थी। जो बात जिस भाषा में जितने दम से कहना चाहता था, उसकी माँ उससे भी जोरदार अंदाज में कहा करती। वही थी, जो उसके बारे में कहा करती थी, "यह तो मेरा लल्लू बेटा है, भोला-भाला···शिवजी जैसा···तुम तो सब काँटे हो काँटे !"

घुद्दू को अफसोस था कि वह माँ के मरते वक़्त उसके पास नहीं था। माँ सारी उम्र तो उसके पास रही मगर चला-चली के वक़्त बड़े भाई के घर जा पहुँची। दो महीने हुए उसे अचानक वायुघात हुआ और उसका एक हिस्सा मारा गया। सवर्णसिंह माँ का हाल-चाल पता करने आया तो वह माँ के मना करते-करते भी उसे अपने साथ शहर ले गया, ताकि उसे बड़े अस्पताल में दाखिल करके इलाज करवा सके।

लगभग डेढ़ माह इलाज चलता रहा। पर वृद्ध और कमजोर शरीर बीमारी का भार न झेल सका !···और रह गया बाकी बूढ़ा बापू बिशनसिंह, जो उसकी मुश्किलों को समझता था। उसकी तंगी जिसकी अपनी तंगी थी। उसने खुद भी सारी उम्र किसान की जून भोगी थी। पर वह बेचारा इतना दयनीय और दब्बू जाट था या यों कह लें कि बड़े बेटों के पैसों का उस पर इतना रौब गालिब था कि वह गर्दन तानकर उन्हें कोई बात नहीं कह पाता।

"ओ आ ओए माँ के शिवजी !···खूँटे पर ही ठक-ठक किए जा रहा है···हमें और भी काम करने हैं···" करमसिंह ने घुद्दू को डपटकर बुलाया। घुद्दू मिट्टी से सने हाथ पोंछता हुआ धीरे-धीरे चलकर उनके पास आ खड़ा हुआ।

"बैठ जा।" करमसिंह ने घुद्दू को खाट पर बैठ जाने का इशारा किया। बचनो भी बुक्कल संवारती बापू के पायताने आ बैठी।

"बापू !" करमसिंह बोला, "भाई साहब रात ही मेरे पास आ गये थे। हम आपसे मशवरा करने आये हैं···"

"करो भई मशवरा, जो करना है···क्या मामला है···?" बापू ने हौले-से दाढ़ी खुजाई।

"देखो सलाह करके मिल-जुलकर हम जो काम करेंगे उसकी कोई रीस नहीं···" करमसिंह ने पलभर रुककर सबके चेहरों की तरफ ताका और फिर खूँगूरा मार कर बोला, "बात एक तो यह है कि माँ का इकट्ठ करना है बज-बजा के·· सभी नाते-रिश्तेदारों को बुलाना है···माँ बुढ़िया, कर्मों वाली·· दोहते-पोतों वाली हो के···उम्र भोगकर गयी है···उसे बड़ा करना है···आपकी क्या सलाह है ?"

"बेटे, मेरी सलाह क्या होनी है···पर हमारे जैसे छोटे बंदों को काहे का बड़ा करना हुआ···!" बापू ने टूटे स्वर में कहा था।

"मैंने भी करमसिंह को कहा कि यह फिजूलखर्ची है···यह मानता ही नहीं···" सवर्णसिंह ने राय दी।

"अरे भाई साहब ! बिरादरी वाले क्या कहेंगे ! अच्छे-भले कमाऊ पूत···पैसे वाले··· क्या कमी पड़ जाएगी !···आप पढ़े-लिखों के लिए होगी फिजूलखर्ची··और फिर आपको क्या···आपने तो रहना है शहर में···यहाँ ताने तो हमें बजेंगे···" करमसिंह अभी बोल ही रहा

था कि बचनो उसकी बात काटकर बीच में बोल उठी, "हाँजी···नहीं-नहीं भाई साहब, आप भी कैसी बातें करते हैं। भाई करमसिंह ठीक कह रहा है···उधर मेरे ससुराल वाले तो तैयारियाँ करके बैठे होंगे···मुझे तो देवरानी-जेठानी सब लानतें दे-देकर मार देंगे···"

घुद्दू समझ रहा था कि बापू के बहाने बात असल में उससे ही हो रही थी। उसका मन हुआ कि बचनो को ताड़ से झापड़ दे मारे!···सवर्णसिंह ठीक ही कह रहा था कि यह फिजूल-खर्ची है। तिस पर उसे अपना घर भी दिखाई दे रहा था।

"देखो भई, मैं पीछे तो हटता नहीं। जितना खर्च मेरे हिस्से में आता है बता दो कुलजमा···पर मेरा···" सवर्णसिंह ने सहमति दे दी।

घुद्दू को उम्मीद थी कि सवर्णसिंह इस प्रस्ताव के विरोध में डटा रहेगा। पर उसके सहारे की डोरी जल्दी ही उसके हाथों से छूट गयी। वह चिंता और परेशानी के कुएं में धड़ाम से गिरा, जहाँ वह धखिया रहा था और उसके अंदर धुआँ इकट्ठा होता जा रहा था।

"पाँच-सात हजार तो आराम से लग जायेंगे···साथ ही भाई साहब ने बताया है कि माँ की बीमारी पर इन्होंने सत्ताईस सौ रुपये खर्च किये हैं। हम तीनों के हिस्से नौ-नौ सौ रुपये···" करमसिंह सारे खर्च का ब्यौरा बता रहा था।

माँ की बीमारी का खर्च बाँटे जाने की बात सुनकर घुद्दू को धक्का-सा लगा। वह दाँतों से होंठ काटने लगा। उसे कुछ सूझा ही नहीं कि वह क्या कहे···क्या न कहे!

"माँ की बीमारी पर खर्च कर दिया···फिर क्या हुआ? घुद्दू बेचारे ने सारी उम्र उसे रोटी भी तो खिलाई है।" बापू ने हिम्मत करके बात कह ही दी, "इसका भी कोई हिसाब होता है भला!"

"देखा न बापू···यह तो कोई बात न हुई···अगर इसने रोटी खिलाई है तो सारी उम्र माँ चाकरी भी तो इसी की करती रही है···इसे संभाला, इसके बच्चे संभाले, गू-मूत धोया···" बचनो बुक्कल से हाथ निकालकर पंजा हिला-हिला बोल रही थी, "देख न, माँ-बाप के हिस्से की जायदाद भी तो फिर यही खाता था···"

"तू···तू। चुप भी कर। आ गयी बड़ी वकीलनी।" घुद्दू तमक पड़ा। उसके नथुने फड़कने लगे। इतनी ठंड में भी उसका माथा तप रहा था।

"ले···मैं नहीं बोलती···देख न, इसे तो मैं जहर लगती हूँ निरी···देख न—ले, मैं नहीं बैठती···" बचनो हाथ मारती गुस्से में उबलती चल दी।

माहौल में तनाव छा गया। करमसिंह ने बात टाल देनी चाही किंतु बचनो पीछे मुड़कर फिर बोलने लगी, "देख न, मेरा हिस्सा भी है ऐसे तो ज़मीन में···तू बड़ा आया···वकीलनी तो वकीलनी सही···"

"चलो छोड़ो, बाकी बातें फिर कर लेंगे···शांति रखो···" और इस करमसिंह ने सीधे घुद्दू से ही कहा, "भाई साहब के पास तो वक़्त नहीं···माँ के फूल, बता तू गंगा ले जायेगा या मैं···?"

दो मिनट तक घुद्दू खामोश बैठा रहा। उसके भीतर अनेक विचार एक-दूसरे को कुचलते हुए मार-काट करके भागे जा रहे थे। पल-भर के लिए बाहरी धुंध जैसे उसके अंदर पसर गयी। वह गुमसुम बैठा रहा···और फिर जैसे दुखियाता-दुखियाता सहसा भभक उठा हो, वह एकदम खड़ा हो गया।

"देखो जी", वह बोला, "आपसे कोई बात लुकी-छिपी नहीं ···मैं तो हूँ कड़का ···मुझसे तो अभी नहीं पुगती यह गंगा-गुंगा ···" वह पलभर रुका। गले में रुका थूक अंदर निगला और सिर झटक कर बोला, "अगर बहुत जरूरी है तो माँ के फूल आप गंगा में बहा आओ ···और यह बापू ···आपके सामने बैठा है जीता-जागता ···" उसने अपने बापू की तरफ इशारा किया, "इसके फूल मैं अकेला ही गंगा में बहा आऊँगा ···"

बापू और दोनों भाई हैरत से उसका मुँह ताक रहे थे। मगर वह रुका नहीं। वह बोलता ही रहा, "सच्ची बात है ···अभी अपनी पुगत नहीं ···और अगर यह सौदा नहीं मंजूर तो भाई साहब ···उस खूँटी पर मेरे हिस्से के फूल लाकर टाँग दो ···जब मेरी पहुँच होगी ···मैं खुद-ब-खुद ही बहा आऊँगा गंगा में ···!" और उनके देखते-ही-देखते वह मुँह दबाकर अंदर की तरफ चला गया।

**पंजाबी से अनुवाद : रमेश बतरा**

# तिरुपति ने देखा तो होगा

□ डॉ. र. श. केलकर

दिल्ली के कोलाहल भरे प्लेटफार्म से जी. टी. एक्सप्रेस चली तो फर्स्ट क्लास के अपने डब्बे में निचली सीट पर बैठे मेरी जान में कुछ जान-सी आ गई क्योंकि कोलाहल से मुझे सख्त नफ़रत है। अजीब-अजीब चेहरे, अजीब-अजीब लिबास, अपने-अपने बात करने के विचित्र लहजे और इन सबके साथ एक अजीब-सी भगदड़ और शोर-शराबा जिसमें न कोई औरत देखती, न कोई मर्द और न ही बच्चे। कुली भी चलते हैं तो यह देखे बिना कि सर पर लदे हुए उनके बक्से किसी से टकरा कर कहीं उसे चोट तो नहीं पहुँचाते। हाथ में लटके हुए कुली के बड़े होलडोल से कोई बुढ़िया टक्कर खा जाए तो उसकी बला से और यदि किसी हसीना का दुपट्टा उलझ जाए और वह आँखें तरेरे अपने गुलाबी सुडौल होंठों को बेडौल बनाए कुछ कहा सुनी करे तो कुली के पास सेंत कर रखे हुए कुछ शब्द होते हैं जो वह बिना रुके यूँ ही बिखेर देता है। भला यह शोर-शराबा किस भले आदमी को अच्छा लग सकता है। लेकिन इस देश में उससे पार पाना भी तो एक समस्या है। बस स्टाप हो या बाजार, रेलवे स्टेशन हो या हवाई अड्डा, लोग टिड्डियों की तरह बढ़ रहे हैं और हर एक जगह छाए रहते हैं और बतियाते रहते हैं। मैं हर जगह उनसे दूर भागने की कोशिश करता हूँ। मेरी दशा कुछ-कुछ उस चुटीले कौए की तरह हो जाती है जो अपनी बिरादरी से बिछुड़ने के कारण अलग एक जगह तो बैठा रहता है पर उसकी बिरादरी वाले उसके सिर पर काँव-काँव करके उसकी जान लेने पर अमादा हो जाते हैं जब तक वह दुबारा उनमें घुल मिल सकने योग्य नहीं हो जाता।

खैर गाड़ी चली तो मैंने आराम की साँस ली और चिन्तन की मुद्रा में एक सिगरेट जलाई बिना यह देखे कि मेरे डब्बे में तीन और भी यात्री हैं। स्वाभाविक था कि उन्हें मेरी यह अवहेलना खटकी होगी इसलिए एक साहब तपाक से पूछ बैठे, "आप मद्रास जा रहे हैं?" "जी हाँ" जैसे मैंने उन्हें चुप करने के इरादे से कह दिया। पर वह थे जो मुझे बातों में लपेटते चले गए और अपने भीतर अत्यन्तत्रस्त होते हुए भी मुझे उनके प्रश्नों का उत्तर देना पड़ा जिसमें मेरे बारे समस्त जानकारी, मेरी यात्रा का प्रयोजन, मेरे बच्चे, मेरी बीवी, मेरी महावार तनख्वाह, यहाँ तक कि मेरी पैदाइश भी, सब कुछ शामिल था। लोगों की यह मनोवृत्ति कभी भी मेरी समझ में नहीं आई कि कोई किसी के बारे में इतना सब कुछ क्यों जानना चाहता है। क्या यह जरूरी है? क्या इतना काफ़ी नहीं है कि आप देखें कि आपके सामने एक आप जैसा ही आदमी बैठा हुआ है। पर नहीं, जहाँ तक इस देश के लोगों का संबंध है इनमें दूसरे के कपड़े उतार कर उसकी अंदरूनी सतहों तक पहुँचने की बड़ी प्रबल इच्छा दिखाई देती है। विदेश में लोग अपने आप में

व्यस्त रहते हैं जैसे उन्हें दूसरे से कोई सरोकार ही न हो। और अच्छा भी है। जब तक बात करने का कोई प्रयोजन न हो, कोई किसी से क्यों बात करे?

खैर मेरे उत्तरों से जरूर उन साहब को लगा होगा कि यह आदमी बात करने में रुचि नहीं रखता। कुछ देर अपना सामान फैलाए-बटोरते रहे जैसे वे अपने सारे सामान की इनवेंटरी ले रहे हों। मुझ समेत बाकी तीन आदमियों को कुछ देर यूं परेशान करने के बाद उन्होंने अपना सामान बटोरा और अपनी अटैची में से एक व्हिस्की की बोतल निकाल कर सामने वाली सीट पर जम गये। बड़े बेतक्कुलफी से उन्होंने मुझसे पूछा। पर मैंने रूखेपन से उन्हें मना कर दिया। मेरे जवाब से उन्हें लगा कि यह आदमी सचमुच बौडम है। उनके मुँह पर का यह भाव देखकर मुझे भी बड़ा संतोष हुआ। मैंने सोचा, चलो कम से कम इनसे तो पिंड छूटा।

गाड़ी अपनी रफ्तार से चली जा रही थी। रेल की पटरी के दोनों ओर पेड़ और झाड़ियाँ क्षणिक झाँकी-सी दिखाकर पीछे छूटते जा रहे थे। दोनों ओर लहलहाते खेत खिसकते जाते थे। वे अब तक आधी बोतल से ज़्यादा पी चुके थे और शराब की बदबू से सारा कंपार्टमेंट भर गया था। दो और सज्जन जो हमारे डब्बे में थे, दक्षिणवासी थे और बोतल देखते ही अपनी ऊपरी सीटों पर मुंह ढककर लेट चुके थे। कहते हैं जब इनसान नशे में होता है तो वह या तो चुप हो जाता है या अत्यन्त वाचाल। जब नशा सवार हुआ तो वह बुरी तरह से बड़बड़ाने लगे, गुनगुनाने लगे, गाने लगे और एक अजीब-सी हड़बड़ाहट उन्होंने पैदा कर दी। उसी समय खाने का आर्डर लेने के लिए बैरा आया और उसके साथ टिकट चेकर भी। श्रीमानजी ने हँसते हुए टिकट चेकर के हाथ चौथाई बोतल पकड़ा दी और आनन्द भिभोर हो गए। टिकट चेकर ने न उनसे टिकट पूछा न मुझसे, न बाकी दोनों यात्रियों से और चुपचाप बोतल थामे ऐसे खिसके कि मद्रास तक चेकर के नाम कोई सूरत ही न दिखायी दी। और वे शराब के शरूर में अंग्रेजी में बतियाते भोजन का बड़ा लम्बा चौड़ा आर्डर दे रहे थे और बैरा उन्हें अपनी टूटी फूटी हिन्दी में यह समझाने का भरसक प्रयत्न कर रहा था कि इस गाड़ी में मुर्गा-मच्छी नहीं मिलता पर इतनी छोटी-सी बात उनके भेजे में नही बैठ रही थी। आखिर मजबूर होकर मुझे उन्हें समझाना पड़ा और बड़ी मुश्किल के बाद वे समझ पाए। तेज मिर्च का दक्षिणी खाना खाने के बाद उन्हें ऐसा पसीना छूटा कि हा-हू करते वे जो लेटे तो सुबह साढ़े दस बजे उसकी आँख खुली। तब तक गाड़ी विजयवाड़ा पार कर चुकी थी और मद्रास पहुँचने वाली थी। मेरी बायीं ओर दूर पर सागर की नीली लकीर-सी लहरा रही थी और लाल मिट्टी में खजूर के पेड़ बीच-बीच में अपने अस्तित्व का आभास दे जाते।

जैसे ही गाड़ी मद्रास स्टेशन की यार्ड में खिसकने लगी तो फिर एक बार मेरा दिमाग झनझना उठा। प्लेटफार्म पर यात्रियों की भीड़ तो थी ही लेकिन इसी के साथ कई लोहे की हाथ गाड़ियाँ अपने पहियों पर ढुलकी जा रही थीं और एक अच्छा-खासा कोलाहल पैदा कर रही थीं जो किसी भी सभ्य कहे जाने वाले व्यक्ति के लिए कर्णमधुर वस्तु नहीं हो सकती। आप सहमत हों या न हों पर यह मेरा अनुभव रहा है कि यदि प्लेटफार्म पर रखा लोहे का संदूक खींच लिया जाए तो मेरा रोम-रोम झन्ना उठता है।

मद्रास में मेरा कोई विशेष काम नहीं था। कहने भर के लिए केवल अपने ऑफिस का इंस्पेक्शन करना था और दूसरे दिन रात की गाड़ी से कड़प्पा जाना था। मेरी यात्रा की वह एक महत्त्वपूर्ण मंजिल थी क्योंकि कड़प्पा के प्रकाशक महाशय जिन्होंने हमारी एक पुस्तक छापी

थी, वर्षों से रायल्टी डकार बैठे थे। मुझे उनके यहाँ जाकर स्टॉक देखना था और वसूली भी करनी थी जिसके लिए मेरे पास आवश्यक कागजात दिए गए थे। तेलुगु भाषी न होने के कारण मैंने अपने सहयोगी, जो मद्रास ऑफिस के प्रमुख थे, अपने साथ ले लिये। रात भर का सफर तय करने के बाद भोर होने के पहले ही हम कड़प्पा पहुँच गए। गाड़ी हमें छोड़कर भागी जा रही थी और उस छोटे-से स्टेशन पर खड़ा मैं अपने आपको अजनबी-सा अनुभव कर रहा था। स्टेशन के बाहर कोई वाहन भी नहीं दिखाई दे रहा था जैसे उस छोटी-सी आबादी के सब लोग पद यात्री ही हों। गनीमत थी कि मैं अपने सामान को मद्रास छोड़कर आया था स्टेशन से बाहर जाकर जब मैंने अपने सहयोगी से पूछताछ की तो वे भी उस इलाके के बारे में मुझसे कम अपरिचित न थे। उन्हें केवल एक ही सुविधा थी कि वे वहाँ की भाषा बोल सकते थे। मेरे कहने पर उन प्रकाशक महोदय की दुकान के बारे में उन्होंने पूछताछ की और बड़े ही लटके के साथ मुझसे कहा, "इट इज़ नॉट वैरी फार ऑफ। माईट वाक डाउन दी डिस्टैंस।" सुबह का सुहावना समय, सड़क के दोनों ओर लगे सेमल के फूलों की भीनी-भीनी सुगन्ध और पैदल चलने का थोड़ा-सा शौक मुझे आमंत्रित कर रहा था। मैंने उनकी बात मान ली और अपने चारों ओर के वातावरण का सर्वेक्षण करता उनके साथ चल पड़ा। उस तथाकथित शहर में कुल मिलाकर हज़ार-दो हजार, कुछ पक्के और कुछ अधपक्के, मकान थे। प्रकाशक महोदय का पता जो हमें बताया गया था वह वहाँ के बाजार में था पर आश्चर्य की बात यह थी कि वहाँ कोई बाजार ही न था। हमने पूरी आबादी छान मारी पर बाजार हमें कोई दिखाई नहीं दिया। न ही कोई होटल दिखाई दे रहा था और न कोई चाय की दुकान। सुबह की चाय का प्याला पीने के लिए मेरा मन तड़प रहा था पर कोई दूकान हो तब न चाय पी जाए। हम दोनों हारकर आबादी के ही साथ एक खुले मैदान में, एक बड़े से बरगद के पेड़ के नीचे आकर खड़े हो गए क्योंकि नीचे गीली मिट्टी होने के कारण बैठकर विश्राम करने की बात हम सोच ही नहीं सकते थे। थोड़ी देर यूँ ही खड़े रहने के बाद वह आबादी जैसे चेतन-सी होने लगी और कुछ आदमी दिखाई देने लगे। पूछताछ करने के बाद पता लगा कि जिस मैदान में हम खड़े थे वही उस आबादी का बाजार लगता था। हमें यह भी पता लगा कि वे प्रकाशक महोदय ठीक हमारे सामने वाली गली में थे। लेकिन आठ बजे के करीब जब हम दुकान कही जाने वाली उस छोटे से मकान पर पहुँचे तो न तो वहाँ किसी प्रकार का कोई साईन बोर्ड था और न किसी दुकान की कल्पना ही उस घरौंदे को देखकर की जा सकती थी। दरवाज़े की जगह कुछ लकड़ी की खड़ी पट्टियाँ ज़रूर फँसी हुई थीं। हमारा सौभाग्य था कि दो-चार मिनट भौंचक खड़ा रहने के बाद हमें एक राहगीर ने बताया कि जहाँ हम खड़े थे वही दुकान थी जो लगभग दस बजे के करीब खुलती थी। मैंने सोचा कि हम यहीं खड़े रहें तो शायद प्रकाशक महोदय दुकान ही न खोलें इसलिए आँतें ऐंठते हुए हम फिर से लौटकर उस बरगद के पेड़ के नीचे आ खड़े हुए। मेरा ध्यान अपने पेट की तरफ और उस दुकान की पट्टियों की तरफ एक साथ लगा हुआ था। न तो प्रकाशक कम महत्त्वपूर्ण था और न ही अपना पेट जो कल से भूखा था। मद्रास के होटलों में चपाती मुझे देखने को नहीं मिली और छोटे-छोटे काले कंकड़ों से भरा जो सफेद चावल मैंने साँबर के साथ खाया तो मारे मिर्च के ऐड़ी से चोटी तक मैं पसीना-पसीना हो गया। शाम को मुझे विवश होकर भोजन का बहिष्कार करना पड़ा और दो केलों के बूते पर मैंने आगे का सफर तय करने की ठान ली थी, इस आशय से कि शायद आगे चलकर किसी जगह मिर्च से मेरा पीछा छूटे।

बरगद के पेड़ के तले खड़े-खड़े भूखे पेट की याद के साथ-साथ लाल-लाल लम्बी मिर्च भी मेरी आँखों के सामने तैर जाती थी।

आठ बजे से ठीक साढ़े दस बजे तक उस बरगद के पेड़ के नीचे समाधी लगाने के बाद कहीं जाकर लकड़ी के दो फट्टे खिसकते हुए दिखाई दिए। मेरा अनुमान ग़लत नहीं निकला, फट्टे निकालने वाले महाशय स्वयं प्रकाशक थे और भीतर बैठने के नाम टीन की दो कुर्सियाँ भी थीं। प्रकाशक के पास जाकर जब मैंने अपना परिचय दिया तो पहले वह कुछ आतंकित और बाद में संयमित होते से दिखाई दिया। मैंने वह पत्र भी दिखाया जो मुझे उनके स्टॉक की जाँच पड़ताल करने के लिए दिया गया था। मैंने बताया कि रॉयल्टी की रकम मैं स्वयं वसूल करने के लिए आया हूँ और अपने साथ लेकर ही जाऊँगा। प्रकाशक के अनुसार रॉयल्टी बनती ही न थी क्योंकि किताबें बिकी न थीं। मैंने उनका स्टॉक गिना तो पता लगा कि एक हजार से अधिक प्रतियाँ कम हैं। उनकी छोटी-सी दलील यह थी कि वह प्रतियाँ पुस्तक विक्रेताओं के पास भेजी हुई हैं पर मैं दबने वाला न था। मैंने उनसे स्टॉक रजिस्टर पेश करने के लिए कहा तो पता लगा कि वे बहीखाता रखते ही नहीं। मैंने इस वस्तु-स्थिति को भुलाया और उनसे कहा कि वे चुपचाप एक हजार प्रतियों की जो रॉयल्टी बनती है वह मुझे दे दें। मेरे करारे शब्दों से वे प्रभावित हुए और प्रश्नचिन्ह भरी दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए उन्होंने कहा, "पर इस समय मेरे पास रुपये तो हैं ही नहीं।" नहले पर दहला मौजूद था। मैंने कहा, "आप चैक दे दीजिए।" वे बोले, "बैंक में रुपये नहीं हैं।" मैंने उन्हें घेरा, "नहीं हैं तो पोस्ट-डेटड चैक ही दे दीजिए अगले हफ्ते का और रुपये जमा कराइए।" कोई चारा न देखकर उन्होंने अपने बैग से चैक बुक निकाली और ऑफिस के नाम क्रास चैक दे दिया।

जेब में चैक डाले जब मैं बाहर निकला तो साढ़े ग्यारह बज गए थे। सुबह की चाय की तलब लगभग मर चुकी थी और अब भूख बढ़ने लगी थी। बड़ी छान-बीन के बाद मेरे सहयोगी ने एक जगह का पता लगाया जिसे न तो होटल कह सकते हैं और न घर, पर वहाँ एक रुपये में खाना मिलता था। हम दोनों केले के पत्तों के सामने जमीन पर आसीन हो गए। खाना परोसा जाने लगा। रसम, साँबर और चावल और मैं चावलों में से पत्थर बीनने लगा। स्वाद के लिए चावल के साथ जरा-सा साँबर लगाकर मैंने चावल को निगलने लायक बनाया लेकिन तीखी मिर्च के कारण मैं धराशाही-सा होने लगा। मुझे लगा कि मेरी जीभ से लेकर पेट के भीतरी भाग तक तेजाब-सा घुसता जा रहा है। खैर अंग्रेजी में एक कहावत है "व्हाट कैन नाट बी क्योर्ड, मस्ट बी एन्डयोर्ड।" खाना खाकर 'हा-हू' करता मैं स्टेशन पहुँचा। मेरे सहयोगी उस खाने के आनन्द से डकार रहे थे, निश्चय ही खाना उन्होंने भरपेट खाया था।

मद्रास से चलते समय मैंने अपने सहयोगी से कहा था कि इतनी दूर आने के बाद मैं तिरुपति भी जाना चाहूँगा। रेनीगुंडा स्टेशन पर हमारे और दो सहयोगी मद्रास से आने वाले थे ताकि हम चारों तिरुपति देवस्थान जा सकें। कड़प्पा से गाड़ी पकड़कर हम रेनीगुंडा पहुँचे तो शाम के छः बज चुके थे। मद्रास से आने वाले हमारे दोनों साथी हमारी प्रतीक्षा में खड़े थे। रेनीगुंडा से तिरुपति की आबादी तक बस जाती है और अंतर लगभग तीस मील का है। अतः हम बस की तलाश में निकल पड़े। आखिरी बस खचाखच भरी हुई मिली और हमारा उस बस पर चढ़ना कठिन ही नहीं अपितु असंभव था। मैं पशोपेश में पड़ा अपने साथियों से बातें कर ही रहा था कि एक कंडक्टर मेरे पास आया और मेरे यह बताने पर कि मुझे तिरुपति जाना है उसने

चार आदमियों की एक सबसे अगली सीट हमारे लिए खाली करवा दी। खाना न मिलने का जो रोष मन में था वह बस में जगह मिलने से जाता रहा। आज के युग में जब सभी मानवीय मूल्य बड़ी शीघ्रता से बदलते जा रहे हैं, मेरे लिए वह एक अद्भुत चमत्कार था। उस हाय-हुल्लड़ में बस के कंडक्टर को मेरे पास आकर पूछने की जरूरत ही क्या थी? और पूछ भी लिया तो हमारे लिए जगह देने की क्या जरूरत थी? इसीलिए तो मनुष्य में मेरा विश्वास अब भी वैसा ही बना हुआ है जैसा पहले था।

बस हिलकोले खाती, टेढ़े-मेढ़े रास्ते पर चलती रही और रात को साढ़े आठ बजे के करीब हमने तिरुपति शहर में प्रवेश किया। यह शहर सात पहाड़ियों के तलहटे में समतल भूमि पर बसा हुआ है। बस से उतरकर देवस्थान जाने वाली हमने दूसरी बस पकड़ी। शहर से देवस्थान का अंतर दस-ग्यारह मील से ज्यादा न होगा लेकिन वह सारा रास्ता विकट चढ़ाई का रास्ता है।

पैदल पगडंडी से पहाड़ पर चढ़े तो यह अंतर करीब सात मील का बैठता है। शहर से बस चली तो कुछ ही देर के बाद बड़ी भीषण चढ़ाई शुरू हुई। एकदम खड़े मोड़ों की चढ़ाई। जब-जब चढ़ाई पर बस मुड़ती तो पेट की आँतें मुँह तक आ जाती थीं और ऐसा लगता था कि यदि बस के ब्रेक फेल हो गए तो किसी की हड्डी-पसली साबुत न रहेगी। जम्मू से श्रीनगर तक की दो सौ मील की चढ़ाई भी मैंने बस से तय की है और अत्यंत लुभावने सृष्टि सौंदर्य के होते हुए भी वह चढ़ाई कम भयावह न थी। पर तिरुपति की चढ़ाई और कम-से-कम मेरे लिए तो विस्मरणीय बन गयी है। लगभग एक घंटे तक अपनी जान हथेली पर लिए जब हम देवस्थान पहुँचे तो रात के नौ बज चुके थे। एक पहाड़ी की चोटी पर तिरुपति का विशाल काय मंदिर देखते ही बना है, जैसे कोई किला हो। उसकी एक-एक दीवार दो-तीन गज से कम चौड़ी न होगी। कहते हैं, भूखे पेट तो भगवान भी याद नहीं आता पर सच जानिए कि भूखे पेट होते हुए भी मुझे तिरुपति के दर्शन की लौ लगी हुई थी। मैंने सुना हुआ था कि हर समय मंदिर में दर्शनार्थियों का एक बड़ा लम्बा-चौड़ा 'क्यू' लगा रहता है। रात को देर हो जाने के कारण मेरा अनुमान था कि क्यू का यह झंझट अब तो टल गया होगा और हमें आसानी से भगवान के दर्शन हो जाएँगे। अत: बस के रुकते ही हम तपाक से मंदिर में जा घुसे। मंदिर के भीतर अंतर्गृह में जहाँ तिरुपति की भव्यमूर्ति विराजमान है उसके दरवाज़े का एक किवाड़ बन्द था और जो दूसरा किवाड़ खुला था उस पर पुलिस का एक आदमी और एक पुजारी तैनात थे, जो सामने लगे हुए क्यू पर निगरानी रखने के लिए थे। दिन भर के लम्बे क्यू की बची हुई वह दुम थी जिसमें अब भी ५०-६० आदमी मौजूद थे। हमें देखते ही वे दोनों प्रहरी चिल्ला पड़े और क्यू में शामिल होने से हमें वंचित कर दिया गया। मैंने सुना था कि कोई भी दर्शनार्थी मूर्ति के सामने खड़ा होकर आँख भरकर न तो मूर्ति को देख सकता है और न उसके पास भगवान की स्तुति करने का समय ही होता है, क्योंकि जैसे ही वह मूर्ति के सामने आता है तो एक ओर से पुजारी महाशय उसे आगे को ढकेल देते हैं। तभी एक दिन में हजारों आदमी मूर्ति की झलक पा लेते हैं।

पुजारी और पुलिस वाले की ललकार मुझे बहुत ही बुरी लगी। इतनी दूर से आकर भगवान के दर्शन कर सकने की तमन्ना क्या अधूरी ही रहेगी? जब मैंने एक ओर एक दूसरे पुजारी को जाते देखा तो मैंने उसके पास जाकर पूछताछ की। उसने बताया कि भगवान तो नौ ही बजे सो जाते हैं पर क्यू में अब भी आदमी शेष होने के कारण जैसे ही वह लोग दर्शन कर

लेंगे तो द्वार बन्द हो जाएगा। दर्शन कर सकने का कोई उपाय पूछने पर उन्होंने बताया कि रात को साढ़े नौ बजे भगवान की शयनआरती होती है। उस समय आप चाहें तो दर्शन कर सकते हैं बशर्ते आप १५ रुपये का टिकट खरीदें। पुजारी के इस वाक्य को सुनकर मेरा मन विद्रोह कर उठा। दुनिया की हर चीज़ रुपये से खरीदी जा सकती है उसी तरह भगवान के दर्शन भी। अजीब बात थी और मेरा मन इस प्रस्ताव से समझौता नहीं कर पा रहा था। दीवार के बाहरी भाग से सटकर मैं बैठ गया और आँखें बंद करके तिरुपति से कहने लगा, "मैं यहाँ तक चलकर आया हूँ, तुम्हें दर्शन नहीं देना तो न दो। मैंने तो अपना कर्तव्य पूरा किया। तुम्हारा दर्शन लिए बिना ही वापस लौट जाऊँगा, तुम जानो।" बस इतना कहकर दिल मसोसता मैं अपने साथियों के साथ बाहर निकल पड़ा क्योंकि तिरुपति ने तो जरूर मुझे निराश किया था पर मेरा पेट बराबर मुझे अपनी याद दिलाए जा रहा था। मैंने साथियों से कहा, "भगवान के दर्शन तो न हुए, कम से कम बाहर चलकर कुछ पेट-पूजा ही कर ली जाए।"

मंदिर के बाहर एक छोटे से होटल में हम लोग जाकर बैठ गए। उस समय केवल इडली ही बची हुई थी लेकिन सच जानिए वह चार इडलियाँ जो मैंने खायीं मेरे लिए अमृत के समान थीं क्योंकि साँबर की उपेक्षा करके भी बिना जीभ और गले को कष्ट दिये मैं उन्हें निगल सकता था। एक प्याला कॉफी से भी कुछ गरमाहट महसूस हुई और मैंने सोचा कि लौटने के पहले मंदिर के अंदर प्रभु के बंद कपाटों को एक बार नमस्कार कर आऊँ। लौटना कैसे होगा यह बात तो अभी तक सोची ही न थी। उसी रात तिरुपति शहर में लौटना जरूरी था और दूसरे दिन सुबह वहाँ से कोई वाहन लेकर रेनीगुंडा स्टेशन तक पहुँच कर सुबह पौने नौ बजे की गाड़ी पकड़ना लाजमी थी। क्योंकि हर दशा में दूसरे दिन शाम तक तो मुझे मद्रास पहुँचना ही था। दूसरे दिन रात की गाड़ी से बंगलौर जाने का मेरा रिजरवेशन भी था और तीसरे दिन वहाँ हमारे कार्यालय की ओर से एक समारोह होने जा रहा था जिसमें वहाँ के शिक्षा मंत्री पधारने वाले थे और सारी व्यवस्था के साथ-साथ अपने कार्यालय का प्रतिनिधित्व भी मुझे करना था। मैं अपने आपको दो पाटों के बीच फँसा हुआ पा रहा था। खैर हम लोग दुबारा मंदिर में घुसे। मैंने बंद दरवाजे को नमस्कार किया तो देखता हूँ कि परिक्रमा की दाईं ओर जहाँ कपड़े का एक विशालकाय दानपात्र बना हुआ है, वहाँ से छह-सात खादीधारी पुरुष गुजर रहे थे और आठ-दस पुजारी उनकी अगवानी कर रहे थे। मेरा मन मौके को खोने के लिए तैयार नहीं था। मुझे लगा कि यह सब नेता लोग हैं और किसी चोर दरवाजे से भीतर भगवान के दर्शन करने जा रहे हैं। मैंने अपने साथियों को इशारा किया और हम सब भी चुपचाप उस जमघट में शामिल हो गये। मेरा अनुमान सही निकला। हमें एक दूसरे दरवाजे से मंदिर में प्रवेश मिला। मेरे सामने तिरुपति की विशालकाय मूर्ति खड़ी थी हम लोग करीब बीस मिनट तक मंदिर में रहे और यह पूरा समय मैं तिरुपति का निर्निमेष दर्शन करता रहा जो साधारण अवस्था में कभी भी संभव नहीं हो सकता था। पुजारियों ने निश्चय ही हमें उस वी. आई. पी. पार्टी का सदस्य समझा होगा जिसकी उन्हें काफी समय से प्रतीक्षा थी।

अब हमारी पहली समस्या यह थी कि तिरुपति टाउनशिप पहुँचा जाए। मेरे साथियों ने पूछताछ की तो पता लगा कि दस बजे आखिरी बस निकल जाती है। मेरे सामने एक और संकट खड़ा हो गया। कोई उपाय न देखकर हमने सोचा कि बस अड्डे की बैंचों पर जाकर बैठ जाते हैं जिससे हम सुबह पहली बस पकड़ सकें। पर भीड़ इतनी अधिक थी

कि यह कह सकना मुश्किल था कि हमें पहली बस मिल ही जाएगी। दूसरे, बैंच पर बैठे-बैठे रात काटना भी तो मुश्किल था। बिछाने के लिए तो कुछ था नहीं जो कमर सीधी कर लेते। मैंने अपने सहयोगियों के सामने प्रस्ताव रखा कि क्यों न हम लोग चढ़ाई उतरकर पैदल शहर पहुँच जाएँ। समय भी कट जाएगा और सात मील का फासला भी कुछ अधिक नहीं होता। मेरी बात सुनकर मेरे सहयोगी कुछ सन्नाटे में आ गए और मुझे साँप और बिच्छुओं के डर से आतंकित करने लगे। पर मैंने संकल्प कर लिया। मैंने उनसे कहा कि अगर उन्हें डर लगता हो तो मैं आगे-आगे चलने को तैयार हूँ वे मेरे पीछे-पीछे चले आएँ। वह तीनों अजब धर्मसंकट में पड़ गए थे। न तो वह मुझे मना कर सकते थे और न मेरे साथ चलने के लिए तैयार थे। इसी उधेड़बुन में काफी नीचाई पर जहाँ कुछ समतल-सी भूमि थी मुझे एक लाल रंग की बस खड़ी दिखाई दी। उसे देखते ही मेरे मन में एक प्रबल इच्छा जाग उठी। 'काश यह बस तिरुपति टाउनशिप जा रही होती'। पर ऐसा सोचना व्यर्थ था। मैं मन मसोसकर उस बस को देख रहा था, देखे जा रहा था कि इतने में खाकी वर्दी पहने एक आदमी पास आया। शायद बस की ओर लगी हुई ललचाई दृष्टि से उसने सब कुछ भाँप लिया था। उसने स्वयं ही पूछा, "क्या आप तिरुपति टाउनशिप जाएँगे?" मैंने "हाँ" तो कर दी पर मुझे विश्वास नहीं हो रहा था। उसने अपना बैग खोलकर हमें चार टिकटें दीं, पैसे काटे और बोला, "जल्दी जाकर बैठ जाइए, बस जाने वाली है।" बस में तो हम बैठ ही गए पर विश्वास कीजिए कि मुझे अब भी यकीन ही नहीं हो रहा था कि हम बस में बैठे हैं और यह बस हमें टाउनशिप ले जाएगी। ड्राईवर और कंडक्टर को छोड़कर बस में कुल मिलाकर सब पाँच आदमी थे। चार हम और हमारे सामने वाली सीट पर बैठा एक नौजवान। मैंने अपने सहयोगियों से कहा, "हम कितने भाग्यशाली हैं जो यह आखरी बस हमें मिल गई।" हमारी बात उस नौजवान ने सुन ली और मुस्कराते हुए मुड़कर हमें बताया कि वह बस आखिरी नहीं है। आखिरी बस तो काफी पहले की जा चुकी है। यह बस एक विशेष कार्य के लिए चार्टर की गई है। अपने बैग से एक लम्बा लिफाफ़ा निकाल कर दिखाते हुए उसने कहा कि आज ही रात शहर में उसे वह लिफाफ़ा पोस्ट करना है। क्योंकि वह बहुत आवश्यक है और हर सूरत में सुबह की डाक से उसे निकलना ही चाहिए। मैं देवस्थान के प्रबंधक का लड़का हूँ और इसी काम के लिए शहर भेजा जा रहा हूँ। कारण कुछ भी हो लेकिन हमें टाउनशिप की यह बस मिल गयी थी।

रात को बारह बजे के लगभग हम एक धर्मशाला में जा घुसे जो यात्रियों से खचाखच भरी हुई थी। बड़ी मुश्किल से एक छज्जे पर हमें जरा-सी जगह मिली सो हमने बिना किसी बिछावन के ही अपनी कमर सीधी कर ली। भोर होते ही उठकर टैक्सी तलाश की पर वहाँ शायद टैक्सी चलती ही नहीं फिर भी एक टैम्पो में हमें स्थान मिल गया और जब हम रेनीगुंडा स्टेशन पहुँचे तो नौ बज चुके थे। और मुझे यह विश्वास हो गया था कि मेरी गाड़ी निकल चुकी होगी। मैं एक विचित्र संकट में फँस गया। पर उसी समय एक कुली ने मुझे बताया कि गाड़ी कुछ लेट है। हम लोगों ने दौड़कर टिकट खरीदे और प्लेटफार्म पर पहुँचे ही थे कि गाड़ी सामने से आती हुई दिखाई दी। मैं यथासमय मद्रास पहुँच गया और वहाँ से बंगलौर, परन्तु एक बात मुझे बार-बार सोचने के लिए मजबूर करती रही कि जैसा लोग कहते हैं क्या तिरुपति की आँखें सचमुच बंद हैं? पुजारी दर्शनार्थियों को ढकेलते हैं, कभी-कभी मुक्के भी मारते हैं तो फिर तिरुपति उन्हें रोकते क्यों नहीं?

# पॉकेट बुक श्रृंखला में नया दुस्साहस

□ कन्हैयालाल नन्दन

श्री दीनानाथ मल्होत्रा को मैं एक प्रकाशक के रूप में जितना जानता हूँ उससे ज्यादा मैं उन्हें जानता हूँ उनकी इस तड़प के लिए कि हिंदी के प्रकाशन जगत में कुछ ऐसा किया जाये जो सुरुचिपूर्ण तो हो ही, लीक से थोड़ा हटकर भी हो, भले ही इसके लिए उन्हें थोड़ा बहुत व्यावसायिक धक्का सहना पड़ जाये। ऐसे कामों में व्यावसायिक रूप से धक्का लगता है या नहीं, यह तो भली प्रकार वे ही जान सकते हैं लेकिन इसके मेरे पास साक्ष्य हैं कि ऐसा जोखिम उठाने को वे तैयार रहते हैं। जिन्होंने उनके द्वारा प्रकाशित वेदों की पोथी देखी है, मेरे इस कथन की सच्चाई की ताईद करना पसंद करेंगे।

अब उन्होंने हिंद पॉकेट बुक्स के अंतर्गत विश्वचिंतन सीरीज में **सार्त्र, नीत्शे, प्लेटो, मेकियावेली** और **शेख सादी** पर पाँच पुस्तकों की पहली ग्रंथमाला प्रकाशित की है। मैं उनकी हिम्मत की दाद देता हूँ क्योंकि आज जब पॉकेट बुक जगत में चटपटी पठनीयता वाली पुस्तकों की भरमार होती जा रही है तब विश्वचिंतन पर ग्रंथमाला के प्रकाशन की सोचना अपने आप में एक दुस्साहस है। यह दुस्साहस महँगा पड़ जाये इसका खतरा तो रहता है लेकिन इस तरह की सामग्री अगर अब भी लोगों तक पहुँचाने की बात नहीं सोची गयी तो फिर ऐसी सामग्री की पठनीयता लाइब्रेरी में जाने वालों तक ही सीमित हो जायेगी। मैंने जब 'सारिका' के संपादन काल में भारतीय लेखकों के साथ **सार्त्र, काफ्का, हेमिंग्वे, दोस्तोयवस्की, मंटो, तालस्ताय, तुर्गनेव** आदि पर विशेषांक निकालने की योजना बनायी थी तो इसके पीछे कुछ इसी तरह का उद्देश्य मेरे मन में था कि विश्वचिंतन का वह गरिमापूर्ण पहलू घर-घर तक पहुँच तो सके। मुझे खुशी है कि लाखों-लाख लोगों ने उन विशेषांकों की शृंखला को पसंद किया और आज भी उसकी माँग करते रहते हैं। विश्वचिंतन की इस ग्रंथमाला को मैं इसी नजरिये से देखता और स्वागत करता हूँ।

**सार्त्र** को मैं बहुत बारीकी से पढ़ता रहा हूँ। सार्त्र पर डॉ. प्रभा खैतान की पोथी भी पढ़ चुका हूँ। मैं मानता हूँ कि सार्त्र को और सरल ढंग से समझाया जा सकता था लेकिन जितना सरल बना कर सार्त्र को प्रभा खैतान ने पेश किया है वह भी कम नहीं है। सार्त्र का बड़ा प्रसिद्ध वाक्य उनके नाटक 'नो एक्सिट' में आता है **दि अदर इज हेल (दूसरे लोग नरक हैं)**—

अगर सहज रूप से इसकी व्याख्या की जाय तो यही अर्थ निकलता है कि हर दूसरा आदमी एक दूसरे के लिए नरक है। लेकिन इस कथन की तह में जायें तो हमें सार्त्र की वह व्याख्या भी मिलती है जिसमें उन्होंने कहा है कि "नरक दूसरे लोग हैं मेरी इस बात को

हमेशा ग़लत समझा गया है। मैंने जो कहा उसका अर्थ यह लगाया गया कि दूसरों के साथ हमारे संबंध को विषाक्त कर दिया जाता है और वे संबंध नारकीय हो जाते हैं। लेकिन मेरे कहने का अर्थ नितांत भिन्न है। मेरा मतलब था कि अगर किसी के संबंधों को जोड़ा तोड़ा जाता है, कलुषित किया जाता है तो दूसरा व्यक्ति केवल नरक ही हो सकता है।"

प्रभा खैतान की यह किताब पढ़ते हुए सार्त्र की सूत्रात्मक उक्तियों का ऐसा ही विश्लेषण जगह-जगह पर मिलता है। निश्चित रूप से इस किताब को पढ़कर कम-से-कम सार्त्र की विचारधारा का कोई न कोई अंश पाठक के मन में जड़ा हुआ जरूर रह जाएगा। हार्ड कवर में सार्त्र को पढ़ने के लिए लोग शायद आगे नहीं आ पायेंगे जितने पॉकेट बुक में संक्षेप में पढ़ने को तैयार होंगे। आज समयाभाव इतना है कि अब मोटे-मोटे ग्रंथों में **प्लेटो, मेकियावेली** और **नीत्शे** को पढ़ना नामुमकिन-सा हो गया है। मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ कि अगर प्लेटो और मेकियावेली मुझे इस संक्षिप्त पॉकेट बुकीय रूप में न मिले होते तो मैं इनके पढ़ने के लिए शायद समय न निकाल पाता।

एक बात इन पुस्तकों के लेखकों के चुनाव के संदर्भ में भी कहना चाहूँगा—**नीत्शे** को पढ़ते हुए मैं यह सोचने लगा कि अगर नीत्शे को **मुद्राराक्षस** ने न प्रस्तुत किया होता तो क्या भाषा का वह रचाव पाठक को मिलता जो नीत्शे की जिंदगी की समूची यातना को उतारते हुए मुद्राराक्षस ने पेश किया है। मुद्राराक्षस ने जिस भाषा में नीत्शे की ज़िंदगी का आखिर हिस्सा प्रस्तुत किया उसकी एक बानगी मैं आपके सामने जरूर रखना चाहूँगा : "नीत्शे इटली में १८८६ की सर्दियाँ बिता रहे थे। दो पतली नदियों के मुहाने पर बसे पुराने शहर तुरिन या तोरिनों की गलियों के लोग अब उसे पहचानने लगे थे। अचानक उस दिन वह सड़क पर एक जगह खड़ा हो गया, लड़खड़ाया और गिर पड़ा, उसका सिर, मैले बालों सहित सड़क के भूरे पत्थरों वाले फर्श से टकराया। लोगों ने देखा, सोचा शायद वह अब उठ पड़े; लेकिन वह वहीं, गुजरते हुए जुलूस के बाद छूट गये विरोध के काले झंडे की तरह, बिखरा पड़ा रहा।

भीड़ ने उसे उठाया। उठाकर सड़क के किनारे बैठा दिया। मगर वह नीत्शे नहीं कुछ और ही था। वह फटी-फटी अजनबी आँखों से लोगों को घूर रहा था। उसे अब कुछ भी याद नहीं था। अपनी सदी की सबसे बड़ी चुनौती, नीत्शे अब एक कोरी स्लेट में बदल चुका था।"

वह कोरी स्लेट में बदला हुआ नीत्शे अपने एक-एक वाक्य में मसीहाई बोल बोल चुका था। मुद्राराक्षस का कहानीकार और नीत्शे का दार्शनिक दोनों ने मिल कर **जरथ्रुष्ट ने कहा** को ऐसे पेश किया जैसे नीत्शे आज के जमाने में जी कर इस जमाने की तलखियों का निचोड़ दे रहा हो।

**शेख सादी** की **गुलिस्ताँ** को लोगों ने पहले भी पढ़ा होगा, लेकिन **रामकिशोर सक्सेना** की भाषा में शेख सादी और भी अधिक बोधगम्य लगते हैं।

शायद अधिकांश लोगों तक पहुँचने के लिए ऐसी चिंतन परक पुस्तकों का अधिक से अधिक बोधगम्य होना आवश्यक भी है इस दुस्साहस के लिए। हिंद पॉकेट बुक्स को बधाई और विश्व चिंतन सीरीज का मेरे जैसे पाठकों की ओर से हार्दिक स्वागत।

प्रकाशक—**हिन्द पॉकेट बुक्स प्रा. लि.**, भीष्म मार्ग, शाहदरा, दिल्ली-११००३२
प्रत्येक पुस्तक का मूल्य—**बारह रुपये**

# बस्ती में मानुस-गंध खोजती एक औरत

□ **राजकुमार गौतम**

ऐसे कुछेक ही सौभाग्यशाली कथाकार होते हैं जो अकेले होते हैं । अकेला होकर जीते हैं, अकेला होकर सोचते हैं और अकेला होकर ही लिखते हैं। वक़्त के चालू नाकाबों से अपना चेहरा ढाँप कर वे एक अर्थहीन भीड़ का हिस्सा नही बनते बल्कि उस भीड़ की चीख चिल्लाहट और कार्यवाही को ठगे-से देखा करते हैं, चुपचाप, । तत्कालीन लेखनधारा के तेज प्रवाह से वे एक तपस्वी की तरह के लगभग निस्संग बने रहते हैं। मगर यह काम मुश्किल काम है। पूरी भीड़ आपके अकेला होने पर अफसोस करती गुजर जाये या समय को न पहचान पाने की खातिर आपके लिए 'हाय, 'हाय !' करे तो इसे झेलना वाकई मुश्किल होता है। साथ ही यह भी सच है कि जिसने धारे में रुककर, धैर्य धारण कर और तमाम तथाकथित लोकप्रियता का मोह त्यागकर अपने समय को जाँचा परखा है वही एक दुरुस्त टाइम-इंस्पेक्टर भी बन पाया है । यह बात धर्म और राजनीति के क्षेत्र में जितनी सही है, साहित्य में भी उतनी ही सच है, यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक लग रहा है कि विवादों के लिए विशेष रूप से लिखी गयी कृतियाँ इस दायरे में नही आती क्योंकि अपवाद की एक बाज़ारू कीमत तथा नीयत होती है जिसका चंद रचनाकार लाभ उठा सकते हैं। मुख्य बात वही है कि आपकी अकेला होने की ईमानदारी और नीयत कहाँ तक जेनुइन है ।

बहरहाल, यह स्वाभाविक बात है कि यदि आपके भीतर कुछ टिमटिमाता है तो यह सूचना है कि आप अकेले होने की प्रक्रिया की ओर बढ़ चले हैं। इसे 'दर्शन' या 'इंडिविजुअल' के मकड़जाल में न ले जाकर इतना सोचें कि यह यात्रा कई बार सफल भी नहीं होती और अन-देखी तो प्रायः रह ही जाती है । यदि ये 'गुण' किसी रचना में मौजूद हैं तो हमारे हिसाब से उसमें कहीं मौलिकता का अंश अवश्य है। यह किसी कृति की उपेक्षा की बात को सिर चढ़ाने का कॉम्पलेक्स नहीं है, न ही इस उपेक्षा को गौरवान्वित करने की स्टंटबाज़ी, बल्कि यह इस युग की स्वाभाविकता का खुलासा है। गुणों की उपेक्षा इस समय का अभिशाप नहीं, वरदान है, चालू फैशन की सत्ता को बखानो और वांछित अर्जित कर लो—यह समीकरण हमारे आज के समाज का है जिसमें हमारा साहित्य भी गले तक नहीं, माथे तक डूब चला है। इस कींच-स्वीकार्य के अलावा और भला क्या बात हो सकती है कि आज़ादी के बाद हमने राजनेता तो सैकड़ों पैदा किये मगर सैकड़ों अच्छी कृतियाँ हम पैदा नहीं कर सके ! अब पिछले कुछ वर्षों के

हिंदी उपन्यास साहित्य पर ही नजर डालें—कितनी कृतियाँ याद आती हैं : '**नौकर की 'कमीज**', '**कुरु कुरु स्वाहा**', '**कसप**', '**तुम्हारी रोशनी में**', '**समय एक शब्द भर नहीं**', '**लेकिन दरवाजा**,' '**सर्कस**', '**गठरी**', '**तत्सम्**', '**यह चेहरा क्या तुम्हारा है**', '**दर्शक**'···और बस ! प्रसंगत अभी-अभी प्रकाशित **नासिरा शर्मा** के नये उपन्यास '**शाल्मली**' का प्रवेश भी मौलिक बयार का एक और झोंका हमें प्रदान करता लगा, इसलिए इस कृति पर थोड़े विस्तार के साथ कहा-सुना जाना चाहिए।

वस्तुतः शाल्मली के बहाने यह उपन्यास स्त्री-पुरुष संबंधों के बीच उगे विषैले फनों में उतरकर इनका अध्ययन करने की सार्थक कोशिश है। संबंधों की यह दूरी आज कोई रहस्य या लुकाछिपी वाला मामला नहीं रह गई है बल्कि हम सबके सामने एक खुली बहस और चुनौती है। साथ ही लेखक और उसके कथानायक का जो संबंध होता है, वह भी हमसे अजाना नहीं है। इसलिए शाल्मली का सोचना लेखिका के सोचने का ही अधिकांश माना जा सकता है। उपर्युक्त बात से जोड़ते हुए कहा जा सकता है कि शाल्मली इस संबंध को बेहद मौलिकता से सोचती है इसलिए वह अकेली हो जाती है। मगर यहाँ वह भौतिक रूप से अकेली न होकर, मानसिक रूप से अकेली होती है जो कि आज की भयानकतम त्रासदियों में से एक है। हमें लगता है कि स्त्री-पुरुष संबंधों की यह कटु तथा भयानक खबर देना ही इस उपन्यास को मात्र साधारण कृति बना रहने से बचाता है। और यह खबर चुपचाप पाठक की नसों में सीधे उतारी जाती है जो कि किसी कृति की अगली सफलता बनती है। तनाव-द्वंद्व और झींका-झींकी के अखाड़े को यहाँ अनुपयुक्त विस्तार नहीं दिया गया है जबकि चिंतन यहाँ प्रायः दिखाई पड़ता है।

शाल्मली का जीवन अपनी भावुक माँ, पिता के परिपक्व सोच, संस्कार, पति नरेश की कट्टर मर्दबाजी और अनाकार मगर साकार रूप से जेहन में उपस्थित समाज के साथ मिलते-टकराते बीतता है। साधारण परिवार से आकर नरेश के साथ एक कमरे की बरसाती में रहना शुरू करके शाल्मली बंगला, कार और डायरेक्टर के पद तक तो पहुँच जाती है मगर उसे वह शाल्मली बनने में काफी वक़्त लगता है जैसा कि वह बनना चाहती है। अधिक सच तो यह है कि वह आधुनिक जीवन के एक तीखे मोड़ तक ही पहुँच पाती है जहाँ नरेश यानी पुरुष से अलगाव तो है मगर किसी ओछे विकल्प के हत्थे न चढ़ने की तार्किकता भी है। नरेश का व्यवहार शाल्मली के द्वंद्व को बारंबार उकसाता है। इस तरह नरेश के रूप में पुरुष शाल्मली की मुसलसल सोच का एक आवश्यक हिस्सा बन जाता है। शाल्मली के भीतर सामाजिकता और अपेक्षित धैर्य तथा शिष्टता है जिसके चलते वह संबंधों के बीच का कूड़ा-करकट हटाने का यत्न करती है। बहुत जल्दी शाल्मली को पता लग जाता है कि "सत्यता यह थी कि कहीं अपने आप ही भटक गई थी और स्वयं को खोजने की इस प्रक्रिया में वह हर स्वांग भरकर यह देख रही थी कि वास्तव में वह कौन-सी औरत है ! क्योंकि शाल्मली तो एक नाम है। यह नाम तो किसी और का भी हो सकता है और शाल्मली की जगह उसका नाम भी सुजाता, सरिता, मधु, कल्पना कुछ भी हो सकता था। नाम महत्त्वपूर्ण होता है या मनुष्य ! या मनुष्य महत्त्वपूर्ण बनकर किसी भी नाम को सार्थकता प्रदान करता है ?"

छोटी-छोटी घटनाओं, संवादों, प्रतीकों और बिम्बों से शाल्मली का क्रमशः विकास पढ़ा जाना पाठक को जानकार और जिज्ञासु बनाता है। सबसे आवश्यक वह समझती है कि खुद

को अच्छी तरह जान लिया जाये। जब वह नरेश को अपना हिस्सेदार बनाकर सोचती है तो एक अंधेरा ही उसके हाथ लगता है। वर्णन है : "शाल्मली नरेश के साथ दो स्तरों पर जी रही थी। एक नरेश को अपने मन के धरातल पर आँकने का दूसरा उसके साथ संबंध के धरातल पर सहज बने रहने का। वह कभी-कभी स्वयं सोचती कि क्या नरेश भी यूँ दो धरातलों पर जीता है ? एक अंदर-अंदर और एक बाहर-बाहर। ऐसा अनुभव उसे कभी किसी अन्य रिश्ते में क्यों नहीं हुआ ? क्या यह रिश्ता अन्य मानवीय संबंधों से भिन्न होता है ?" हाँ, यह रिश्ता अन्य संबंधों से भिन्न होता है यह शाल्मली को पता है। भौतिक सुख आने पर नरेश की दारूबाजी नियमित हो जाती है और कहीं दूसरी जगह संबंध भी। शाल्मली का पैसा-कमाऊ रूप नरेश को स्वीकार्य है मगर शाल्मली के व्यक्तित्व का विकास उसे ईर्ष्यालु बनाता है। शाल्मली को सोचने की 'बीमारी-सी' हो जाती है। उसे अच्छी तरह पता लग चुका है कि "संसार कहाँ से कहाँ पहुँच गया और आज पुरुषों के मस्तिष्क में अटकी नारी प्रतिमा इंच भर जो बदली हो !" नरेश द्वारा बलात्कार की मंशा का शाल्मली द्वारा विरोध किये जाने पर वह कहता है—"तुम जानना चाहोगी पुरुष की दृष्टि में औरत क्या है ? भोगने की वस्तु''' वही उसकी पहचान है। इसलिए तुम औरत की तरह रहो, इसी में तुम्हारा उद्धार है और इस घर का कल्याण और गृहस्थी का सुख।" इस सस्तेपन से क्रोधित हो शाल्मली लगभग हिंसक होकर नरेश से अपना बचाव करती है।

मगर क्रोध करना, आदर्शों पर चलना, प्रतिक्रिया स्वरूप अपने देह संबंध किसी अन्य के साथ स्थापित करना शाल्मली को रास नहीं आता। वह अपने बारे में लगातार सचेत रहती है। ऐसे में उसकी एक मनःस्थिति दृष्टव्य है : "उसे एक बात से बड़ी घबराहट होने लगती थी कि वह मन, मस्तिष्क की निरन्तर इस मार से कहीं एक कुंठित औरत में न बदल जाये, जो अपनी निराशाओं का समाज से बदला लेकर, उसमें विष घोलकर उसमें शांति का सुख पाना सीख लेती है। इस भय से वह अपने व्यक्तित्व को किसी आलोचक की तरह देखती, अपनी त्रुटियों को जाँचती और पीले पत्तों के समान लटकती अर्थहीन बातों को स्वयं अपने हाथों में तोड़कर फेंक देती थी, ताकि वहाँ पर कोई नया अंकुर फूटे, कोई अच्छे विचार की पत्ती अंकुरित हो।" जैसे कि पहले शाल्मली अपने विषय में यह बताना चाहती है कि वह तो एक प्रतीक है, इसी तरह नरेश के लिए भी वह धारणा रखती है कि मर्दों की पूरी जमात को 'नरेश' में रिड्यूस करके नहीं देखा जा सकता है। शल्मली तो उनके लिए भी चिंतित है जिन्हें पुरुष लोग अपनी तफरीह के लिए भोगते हैं। वास्तव में देखते-ही-देखते शाल्मली आज की इस जटिल औरत की प्रवक्ता बन जाती है। शाल्मली की तलाश का एक और वर्णन देखिए : "नौकरी के कुछ दिनों बाद शाल्मली ने महसूस किया था कि नरेश मित्रों के बीच बैठकर शाल्मली के जिस व्यवहार पर गौरव से भर उठता है, वही बातें घर में सहन नहीं करता था और बेमतलब खीजकर लड़ बैठता था। कभी शाल्मली टाल जाती, कभी चिढ़कर सोचती, बाहर मैं एक सुशिक्षित, सुताय-मान, चतुर चुस्त जीवन संगिनी बनूँ, मगर घर में केवल एक गूँगी पत्नी जो गूँगी तो हो साथ-ही-साथ समय पड़ने पर अंधी और बहरी भी बन सकती हो। नरेश को मुझ जैसी औरत फिर क्यों पसन्द आई थी ? ले आता कोई सजी-सजायी रबर की गुड़िया को, जो पेट दबाते ही बोलती और चाबी देते ही चलती। हाथ और गर्दन अपनी इच्छा से ऊपर-नीचे दायें-बायें करके विभिन्न मुद्राओं में उसे घर के एक कोने में सजा देता, एक जीवित जागरूक संवेदनशील औरत तो हवा

के चलने से भी बज उठती है, वह चाहने पर भी गूँगी, अंधी, बहरी, नहीं बन सकती है। नरेश ने जब उसे इन्हीं गुणों के साथ पसन्द किया था तो अब उन गुणों को नकारने से लाभ ? शाल्मली अपने और नरेश के सम्बन्ध की व्याख्या करती, मगर इससे क्या वह चिन्ता-मुक्त हो पाती, जैसे-जैसे गहरी उतरती वैसे-वैसे अपने को समस्या से अधिक जुड़ा और समर्पित पाती।"

समस्या से इतना सघन जुड़ाव और समर्पण ही इस उपन्यास के अंत को सहमतिजन्य बना पाते हैं। वर्तमान जीवन की जटिलताओं का तटस्थ रहकर समाधान खोजने की कोशिश और सहनशक्ति के समाप्त होते जाने के कारण जानने का लक्ष्य ही मुख्य उद्देश्य बन जाते हैं शाल्मली के जीवन के। रूढ़िवादी औरत से निकलकर फिर से रूढ़िवादी जैसी बातें सोचने पर अपनी सखी सरोज की प्रताड़ना सहती हुई शाल्मली कहती है, "औरतों के पास दो ही अभि-व्यक्तियाँ हैं। या सर झुका देना या समस्या को अधूरा छोड़, सर कटा लेना। मेरा विश्वास न घर छोड़ने पर है, न तोड़ने पर, न आत्महत्या पर है, न अपने को किसी एक के लिए स्वाह करने में है। मैं तो घर के साथ औरत के अधिकार की कल्पना करती हूँ और विश्वास भी। अधिकार पाना यानी 'घर निकाला' नहीं और घर बना रहने का अर्थ 'सम्मान' को कुचल फेंकना नहीं है। यह जो हमारे मन-मस्तिष्क में अति का भूत सवार हो गया है, वही जीवन के लिए विष समान है।" यह भी कि "अपने स्थान से बंधकर मैं सचमुच उस गुण में सूक्ष्मता व दक्षता लाना चाहती हूँ, तब मेरा केंद्र केवल एक पुरुष न होकर, संपूर्ण समाज हो, जहाँ केवल दो जातियाँ रहती हैं, एक औरत दूसरी मर्द····" और इसी स्थिति को आगे बढ़ाती हुई शाल्मली घरों से लुप्त होती मानुस-गंध की प्रतीक्षा करती है। वह अपने सोच के प्रतीक सेमल के फटने की प्रतीक्षा भी करती है जो अंततः पूरी होती है और जिसे वह अपनी वैचारिक आस्था के साथ उगने के लिए स्वच्छन्द भी करती है और ज़ेहन में रोपाई के लिए उसे किताब में भी सुरक्षित करती है, स्थूल रूप से कहा जा सकता है कि 'शाल्मली' नामक इस उपन्यास का यह अन्त है।

संक्षेप में बताने पर ही नहीं, पढ़ने पर भी यह कथा परस्पर-सम्बन्धों को लेकर बुनी गयीं तमाम अन्य कथाओं जैसी ही लगती है मगर शाल्मली में कुछ ऐसा है अवश्य जो उसे विशेषता सौंपता है। कथा में उसकी सहचरी प्रकृति भी है, उसका अध्ययन भी, पिता भी और सबसे बड़े अध्याय के रूप में है नरेश जो बार-बार, शाल्मली को उसकी तथाकथित हैसियत से परिचित कराता है। इतना सब होते हुए भी नरेश अपनी तरह के समाज का प्रतिनिधि तो लगता है मगर लेखिका उसे खलनायक बनाने से बचा ले गई है। वस्तुतः शाल्मली के व्यक्तित्व का यह समर-क्षेत्र है जिसे उपयुक्त भूमिका का जामा ही पहनाया जाना अपेक्षित था। लोकप्रिय शैली और मनोभावों को मनोहारी शब्दों में परोसने का निर्वाह इस उपन्यास की एक और विशेषता है।

जहाँ इतनी विशेषताएँ हैं वहाँ 'शाल्मली' की कुछ सीमाएँ भी हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि नायिका स्थितियों की चाटुकार या मौकापरस्त तो नहीं मगर सुपर आइडियल्स की घेराबन्दी में क़ैद अवश्य है। अत्यधिक सोच, चिंतन, अध्ययन और तर्क से आक्रांत जो निर्णय उस तक पहुँचते हैं वे कई बार जरूरत से ज्यादा ठण्डे लगते हैं। अपनी भीतरी सुलगन के माध्यम से वह इस समस्या को उकेरती तो है मगर अपने व्यक्तित्व के साथ इस पूरी समस्या पर खुद ही तप भी जाती है। समय तथा समाज में भी शाल्मली प्रायः जानकारियों के घोड़े पर ही सवारी गाँठती नजर आती है यद्यपि वह घर के बाहर भी एक सफल अधिकारी है, कई बार ऐसा लगता

है कि यह उपन्यास एक लगभग निर्जन में बसे चंद लोगों के परिवार की कहानी है। दूसरे, इस उपन्यास में 'कहा' बहुत गया है। कथा के भीतर का जो कहा गया घुलनशील नहीं होता, वह पूरी कथा में छलछलाता हुआ दिखा करता है। कथा के गूँथने में यह कमजोरी यहाँ भी दिखाई पड़ती है। यद्यपि वैचारिक-वमन जैसी स्थिति नहीं है, तो भी समस्या के सर्वेक्षण और समस्या पर आधारित साहित्यिक कृति की संवेदनात्मक जमीन तो अलग ही होती है। संभवतः इसी आग्रह के कारण जहाँ-तहाँ कुछ संवाद तक भी स्वाभाविक नहीं रह पाते हैं। परम श्रद्धेय **विजय देव नारायण साही जी ने निर्मल वर्मा** के 'वे दिन' उपन्यास का जिक्र करते हुए एक जगह लिखा है कि उन्हें 'यूरोप और अमरीका के बहुत उपन्यास पढ़ने का अवसर मिला है। लेकिन इतना ज्यादा बियर कहीं पीने का मौका नहीं मिला। ऐसे ही 'शाल्मली' में बहुतायत से आये स्नानगार भी ऊब पैदा करते हैं।

निस्संदेह 'शाल्मली' का मुख्य स्वर और ताल हमें एक अच्छी कृति का तोष देते हैं। समाज में और विशेषतया स्वदेशी परिवेश के मध्यवर्गीय समाज में व्याप्त स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के बीच फैली विकृति को कैश न कराकर उसे गांभीर्य प्रदान कर एक गरिमायुक्त तलाश के लिए 'शाल्मली' को काफी लम्बे वक़्त तक याद किया जाएगा, ऐसा विश्वास अवश्य किया जा सकता है।

**'शाल्मली'** (उपन्यास)
लेखिका—**नासिरा शर्मा**
प्रकाशक—**सरस्वती विहार**
**जी. टी. रोड, शाहदरा, दिल्ली**-110032
मूल्य—**साठ रुपये**

# केंद्रीय हिंदी निदेशालय के कार्यकलाप

□ राजमणि तिवारी

लगभग एक हजार वर्ष से सम्पर्क भाषा के रूप में हिंदी का प्रयोग भारतवर्ष के विशाल भूभाग में हो रहा है। इस भाषा की सहजता और सरलता से प्रभावित होकर विविध प्रांतों के संतों, महात्माओं, धार्मिक नेताओं आदि ने इसे अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। हिंदी भाषा की इसी लोकप्रियता और अधिसंख्य जनता द्वारा हिंदी भाषा में परस्पर व्यवहार-क्षमता को देखते हुए संविधान सभा ने इसे संघ की राजभाषा का गौरव प्रदान किया। संविधान के अनुच्छेद ३४३ से लेकर ३५१ में भारत सरकार की भाषा संबंधी नीति का उल्लेख मिलता है। केन्द्र तथा राज्यों के बीच संपर्क की भाषा तथा एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य के बीच पत्र-व्यवहार की भाषा के बारे में इन अनुच्छेदों में व्यवस्था की गई है।

संविधान के अनुच्छेद ३४३ से ३५१ की अपेक्षाओं के कार्यान्वयन के लिए शिक्षा मंत्रालय द्वारा हिंदी और भारतीय भाषाओं के लिए समान पारिभाषिक शब्दावली का विकास करने के उद्देश्य से सन् १९५२ में एक पारिभाषिक शब्दावली बोर्ड का गठन किया गया। इस बोर्ड में प्रख्यात भाषा विज्ञानियों और विज्ञानवेत्ताओं को सम्मिलित किया गया। मंत्रालय के हिंदी अनुभाग ने इस बोर्ड के मार्ग-निर्देशन में पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण का कार्य आरम्भ किया। इस कार्य के अतिरिक्त हिंदी वर्तनी एवं नागरी लिपि में संशोधन तथा करारों एवं समझौतों के अनुवाद आदि का कार्य भी साथ-साथ किया गया।

शिक्षा मंत्रालय के हिंदी अनुभाग को हिंदी प्रभाग का दर्जा देकर उसे हिंदी न जानने वाले सरकारी कर्मचारियों के हिंदी शिक्षण, शब्दावली-निर्माण, असांविधिक सामग्री के मानक अनुवाद तथा पुस्तक प्रदर्शनियों के आयोजन का कार्य भी सौंपा गया। इसके साथ-साथ हिंदी के प्रचार-प्रसार और विकास संबंधी योजनाओं का कार्यान्वयन भी इस प्रभाग को सौंपा गया।

संविधान के अनुच्छेदों के अनुपालन की स्थिति की समीक्षा करने के लिए सन् १९५५ में राजभाषा आयोग का गठन किया गया। आयोग की रिपोर्ट पर विचार करने के लिए सन् १९५७ में गठित संसदीय समिति की सिफ़ारिशों के आधार पर हिंदी के प्रचार-प्रसार और विकास का कार्य करने के लिए शिक्षा मंत्रालय के अधीन एक संस्था बनाने का निर्णय लिया गया। इस प्रकार १ मार्च, १९६० को **केन्द्रीय हिंदी निदेशालय** की स्थापना की गई। इस निदेशालय को मूलतः संविधान के अनुच्छेद ३५१ में की गई निम्नलिखित व्यवस्था के अनुपालन का दायित्व सौंपा गया :

**"हिंदी भाषा की प्रसार वृद्धि करना, इसका इस तरह विकास करना कि यह**

भारत की सामासिक संस्कृति के सभी तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके, तथा इसकी प्रकृति में हस्तक्षेप किए बिना हिंदुस्तान और आठवीं अनुसूची में उल्लिखित अन्य भारतीय भाषाओं के रूप, शैली और पदावली को आत्मसात करते हुए तथा जहाँ आवश्यक अथवा वांछनीय हो वहाँ उसके शब्द भंडार के लिए मुख्यत: संस्कृत से तथा गौणत: अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए इसकी समृद्धि सुनिश्चित करना संघ का कर्त्तव्य होगा ।"

इस व्यवस्था के अनुपालन हेतु केंद्रीय हिंदी निदेशालय द्वारा विविध योजनाएँ कार्यान्वित की जा रही हैं ।

अहिंदी भाषी भारतीयों तथा विदेशियों को द्वितीय भाषा के रूप में पत्राचार के माध्यम से हिंदी पढ़ाने की योजना निदेशालय में सन् १९६८ से चल रही है । इसके अंतर्गत एक वर्ष की अवधि का 'सर्टिफिकेट कोर्स' तथा दो वर्ष की अवधि का 'परिचय' पाठ्यक्रम अंग्रेजी, तमिल, मलयालम और बाङ्ला माध्यम से चलाया जा रहा है । इसके अतिरिक्त गृह मंत्रालय के तीन पाठ्यक्रम यथा प्रबोध, प्रवीण और प्राज्ञ भी निदेशालय अंग्रेजी माध्यम से पत्राचार द्वारा चला रहा है । अब तक लगभग २ लाख विद्यार्थी इस योजना से लाभ उठा चुके हैं । इनके अतिरिक्त उत्तर-पूर्वी राज्यों में अखिल भारतीय प्रशासनिक सेवाओं की परीक्षाओं में भाग लेने वाले छात्रों को हिंदी पढ़ाने का एक पाठ्यक्रम १९८५ से शुरू किया गया है । इन पत्राचार पाठ्यक्रमों के विद्यार्थियों की सुविधा के लिए निदेशालय ने 'हिंदी प्राइमर' तथा 'डेस्क बुक ऑन देवनागरी' नामक पुस्तकें प्रकाशित की हैं । इसके अतिरिक्त अंग्रेजी, तमिल और मलायलम माध्यमों से हिंदी रिकार्ड तैयार किए गए हैं । अब इनके कैसेट टेप भी तैयार कर लिए गए हैं और ३२ पाठों की सामग्री को दो कैसेटों में समाहित कर दिया गया है । अन्य भाषाओं के कैसेट भी तैयार किए जा रहे हैं । विद्यार्थियों की पाठ्यक्रम संबंधी समस्याओं और कठिनाइयों को स्थल पर ही दूर करने के लिए देश के विभिन्न केन्द्रों पर प्रतिवर्ष कई व्यक्तिगत सम्पर्क कार्यक्रम भी आयोजित किए जाते हैं ।

हिंदी के प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से विस्तार कार्यक्रम योजना के अंतर्गत निदेशालय द्वारा प्रतिवर्ष अनेक कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं ।

अहिंदी भाषी क्षेत्रों के स्नातक तथा स्नातकोत्तर स्तर के विद्यार्थियों को बोलचाल की हिंदी का व्यावहारिक ज्ञान कराने के लिए प्रतिवर्ष हिंदी क्षेत्र में उनके लिए २ अध्ययन-यात्राओं की व्यवस्था की जाती है । प्रत्येक अध्ययन यात्रा में लगभग ५० विद्यार्थियों को बुलाया जाता है और उन्हें हिंदी क्षेत्र के ३ महत्त्वपूर्ण स्थानों की यात्रा कराई जाती है । अब तक निदेशालय इस प्रकार की ३५ अध्ययन यात्राएँ आयोजित कर चुका है ।

अहिंदी भाषी क्षेत्रों के विश्वविद्यालयों में हिंदी भाषा और साहित्य के अध्ययन को बढ़ावा देने के लिए प्रतिवर्ष हिंदी भाषी क्षेत्रों के विश्वविद्यालयों से ४ विद्वान अहिंदी भाषी क्षेत्रों के विश्वविद्यालयों में व्याख्यान देने के लिए भेजे जाते हैं । इसी प्रकार अहिंदी भाषी क्षेत्रों के ४ विद्वानों को हिंदी भाषी क्षेत्रों के विश्वविद्यालयों में व्याख्यान देने की व्यवस्था की जाती है । अब तक ऐसी ११९ व्याख्यान मालाओं की व्यवस्था की जा चुकी है ।

एक योजना के अन्तर्गत अहिंदी भाषी क्षेत्रों के ऐसे २० शोध छात्रों के लिए यात्रा अनुदान की व्यवस्था की जाती है जिन्हें अपने शोधकार्य को पूरा करने के लिए हिंदी भाषी

क्षेत्रों की यात्रा करना आवश्यक होता है। अब तक ऐसी ३०४ यात्रा अनुदानों की व्यवस्था की जा चुकी है।

अहिंदी भाषा क्षेत्रों में हिंदी साहित्य के रचना कार्य को बढ़ावा देने के लिए वहाँ प्रतिवर्ष ७ या ८ नवलेखक शिविर आयोजित किए जाते हैं जिनमें अहिंदी भाषी क्षेत्रों के उदीयमान हिंदी लेखक भाग लेते हैं। अब तक ८९ नवलेखक शिविरों का आयोजन किया जा चुका है।

अहिंदी भाषी हिंदी लेखकों को प्रोत्साहन स्वरूप उनकी साहित्यिक कृतियों पर प्रतिवर्ष २५००-२५०० रु० के १६ पुरस्कार देने की व्यवस्था रही है। इस वर्ष से यह राशि ५००० रुपये कर दी गई है। इस योजना के अंतर्गत अब तक २४४ साहित्यकारों को पुरस्कृत किया जा चुका है।

भारतीय साहित्य के विभिन्न पहलुओं पर विचार-विमर्श करने के लिए वर्ष १९८४-८५ से वर्ष में दो संगोष्ठियाँ आयोजित की जा रही हैं। इनमें से एक संगोष्ठी अहिंदी भाषी क्षेत्र और दूसरी हिंदी भाषी क्षेत्र के विश्वविद्यालय में आयोजित की जाती है। अब तक ऐसी ८ संगोष्ठियाँ आयोजित की जा चुकी हैं।

मानव संसाधन विकास मंत्रालय का शिक्षा विभाग हिंदी के प्रचार-प्रसार और प्रशिक्षण के लिए अहिंदी भाषी क्षेत्रों में काम करने वाली अनेक स्वैच्छिक हिंदी संस्थाओं को वित्तीय सहायता प्रदान करता है। निदेशालय स्वयं तथा कलकत्ता, गोहाटी, हैदराबाद एवं मद्रास स्थिति अपने क्षेत्रीय कार्यालयों के माध्यम से इस कार्य में मंत्रालय को सक्रिय सहायता प्रदान करता है।

राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करने के उद्देश्य से निदेशालय में हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं के द्विभाषा, त्रिभाषा और बहुभाषा कोशों के निर्माण की योजनाएँ कार्यान्वित की जा रही हैं। इन कोशों से भारतीय भाषाओं के बीच समानता का पता लगाने तथा उन्हें एक-दूसरे के निकट लाने में सहायता प्राप्त होगी।

कोश-निर्माण योजनाओं के अन्तर्गत २६ द्विभाषा कोशों का निर्माण किया जा रहा है। इनमें से १३ हिंदी मूलक (यथा, हिंदी-तमिल, हिंदी-तेलुगु आदि) और १३ प्रादेशिक भाषा मूलक (यथा, तमिल-हिंदी, तेलुगु-हिंदी आदि) कोशों का निर्माण हो रहा है। प्रत्येक कोश में लगभग १०,००० शब्द सम्मिलित किए गए हैं। अब तक ११ हिंदी मूलक कोश और ३ प्रादेशिक भाषा मूलक कोश तैयार हो चुके हैं। इनमें से हिंदी-गुजराती, हिंदी-सिंधी, हिंदी-उर्दू, हिंदी-मराठी, हिंदी-असमिया, हिंदी-तमिल, हिंदी-तेलुगु, हिंदी-मलयालम और हिंदी-ओड़िया कोश प्रकाशित हो चुके हैं।

द्विभाषा कोशों के अतिरिक्त २४ त्रिभाषा कोश, जिनमें से १२ हिंदी मूलक त्रिभाषा कोश (यथा, हिंदी-मलयालम-अंग्रेजी, हिंदी-बाङ्ला-अंग्रेजी आदि) और १२ प्रादेशिक भाषा मूलक (यथा मलयालम-हिंदी-अंग्रेजी, बाङ्ला-हिंदी-अंग्रेजी आदि) तैयार किए जा रहे हैं। प्रत्येक कोश में लगभग २०,००० शब्द सम्मिलित होंगे। अब तक ९ हिंदी मूलक कोश और ३ प्रादेशिक भाषा मूलक कोश तैयार हो चुके हैं। प्रत्येक कोश तीन खंडों में प्रकाशित होना है। इनमें से हिंदी-गुजराती-अंग्रेजी, हिंदी-कन्नड़-अंग्रेजी, हिंदी-मलयालम-अंग्रेजी और हिंदी-तमिल-अंग्रजी कोश प्रकाशित हो चुके हैं। भारतीय भाषाओं में आदान-प्रदान की दृष्टि से इन कोशों का बड़ा

महत्व है। इनसे त्रिभाषा सूत्र के कार्यान्वयन में भी सहायता मिलेगी।

निदेशालय ने एक भारतीय भाषा कोश भी प्रकाशित किया है। इस कोश में हिंदी शब्दों के अन्य १३ आधुनिक भारतीय भाषाओं में पर्याय देवनागरी लिपि में दिए गए हैं। इनमें लगभग ५००० शब्द हैं। कोश में पहला खंड 'वर्गीकृत शब्दावली' का है। कोश के दूसरे खंड में अकारादि क्रम से सामान्य शब्द दिए गए हैं। इनमें ऐसे शब्द भी सम्मिलित किए गए हैं जिनका व्यवहार सामान्य जनता अपने दैनिक कामों में करती है। ऐसे भी शब्द दिए गए हैं जो देशव्यापी सांस्कृतिक और भावात्मक एकता के द्योतक हैं जैसे महीनों, ऋतुओं, सामाजिक और पारिवारिक संबंध के द्योतक शब्द, संस्कारों, पर्व-त्यौहारों, रीति-रिवाजों, विभिन्न व्यवसायों, यात्रा और प्रवास संबंधी तथा संख्यावाचक शब्द, दैनिक प्रयोग की विभिन्न वस्तुओं जैसे फलों, सब्जियों, गहनों, कपड़ों औज़ारों आदि के ऐसे नामवाची शब्द भी इसमें सम्मिलित किए गए हैं जो बहुत अधिक प्रयोग में आते हैं। प्रस्तुत कोश भारतीय भाषाओं में समानता दिखाने एवं निकटता लाने का एक ज्वलंत उदाहरण है।

भारतीय भाषाओं की समानता एवं निकटता को तत्सम शब्दों के माध्यम से और स्पष्ट करने के उद्देश्य से निदेशालय में एक तत्सम शब्द कोश का निर्माण किया गया है जिसमें लगभग २०,००० प्रविष्टियाँ हैं। इस शब्द कोश में तत्सम शब्दों के हिंदी और अन्य क्षेत्रीय भाषाओं में पर्याय दिए गए हैं। इस शब्दकोश की पाण्डुलिपि मुद्रणार्थ तैयार है।

भारतीय भाषाओं, उनकी उपभाषाओं तथा बोलियों पर विवरणात्मक लेख संकलित कर एक भारतीय भाषा परिचय कोश प्रकाशित करने का कार्य भी निदेशालय में चल रहा है।

पर्यटकों तथा विद्यार्थियों की सुविधा के लिए निदेशालय भारतीय भाषाओं की द्विभाषिक वार्तालाप पुस्तिकाएँ प्रकाशित कर रहा है जिनमें जीवन के विभिन्न पक्षों से संबंधित लगभग ८०० वाक्य सम्मिलित हैं। अब तक अंग्रेजी-हिंदी, हिंदी-अंग्रेजी, तमिल-हिन्दी और हिंदी बाङ्ला वार्तालाप पुस्तिकाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। अन्य भाषाओं की वार्तालाप पुस्तिकाएँ प्रकाशित करने की योजनाओं पर भी कार्रवाई की जा रही है।

निदेशालय में हिंदी और संयुक्त राष्ट्र संघ की भाषाओं के कोश तैयार करने और प्रकाशित करने की योजना पर कार्य चल रहा है। इस योजना के अंतर्गत पहले चरण के रूप में (अंग्रेजी और रूसी को छोड़कर) हिंदी-चीनी, हिंदी-अरबी, हिंदी-स्पेनी और हिंदी-फ्रांसीसी कोशों का निर्माण कार्य पूरा हो चुका है। प्रत्येक कोश में लगभग ५०० प्रविष्टियाँ राजनय से संबंधित हैं। राष्ट्र संघ द्वारा मान्यता प्राप्त छहों भाषाओं के हिंदी मूलक समेकित कोश की सामग्री भी तैयार की गई है। भाषावार उपर्युक्त कोशों के प्रकाशन के बाद इसे भी प्रकाशित कराया जाएगा।

भारत और विदेशों के बीच हुए सांस्कृतिक विनिमय कार्यक्रम संबंधी करारों के अंतर्गत निदेशालय में कई कोशों एवं वार्तालाप पुस्तिकाओं के प्रकाशन की योजनाएँ चल रही हैं। इनके अंतर्गत तैयार होने वाले जर्मन-हिंदी कोश में लगभग ४५,००० प्रविष्टियाँ होंगी। जिनमें से 'ए' से 'एल' तक के प्रथम खण्ड में लगभग २४,००० प्रविष्टियाँ हैं। इसकी पांडुलिपि मुद्रणार्थ तैयार की जा रही है। कोश के द्वितीय खंड (एम से जेड) के पर्याय-अंकन का कार्य पूरा हो चुका है। इसी क्रम में चैक-हिंदी कोश की पांडुलिपि प्रकाशनार्थ तैयार की गई है। इस कोश में लगभग १५,००० प्रविष्टियाँ हैं। इसके अलावा हिंदी-चैक वार्तालाप पुस्तिका, हिंदी-रूसी

वार्तालाप पुस्तिका तथा हंगेरियन-हिंदी वार्तालाप पुस्तिका की पांडुलिपियाँ भी तैयार की गई हैं। इन पुस्तिकाओं में लगभग १०००-१००० वाक्य संकलित किए गए हैं। इन पुस्तिकाओं के प्रकाशन की व्यवस्था की जा रही है। इन कोशों तथा वार्तालाप पुस्तिकाओं आदि से भारतीय और विदेशी पर्यटक न केवल विचारों का परस्पर आदान-प्रदान कर सकेंगे अपितु इनसे दो संस्कृतियों को समझने तथा एक-दूसरे की शब्द-संपदा और उसमें निहित मूलभूत समानता को जानने में भी मदद मिलेगी।

समस्त भारतीय भाषाओं के बीच समान तत्वों की खोज करने और आदान-प्रदान के द्वार खोलने के उद्देश्य से निदेशालय पिछले २६ वर्षों से 'भाषा' नामक त्रैमासिक पत्रिका प्रकाशित कर रहा है। नियमित अंकों के अतिरिक्त अब तक भाषा विज्ञान, प्रेमचंद, रामचंद्र शुक्ल, विश्व हिंदी सम्मेलन आदि विशेषांक भी प्रकाशित हुए हैं। भारतीय भाषाओं के साहित्य की विविध विधाओं का वार्षिक सर्वेक्षण प्रस्तुत करने के उद्देश्य से 'वार्षिकी' का प्रकाशन भी १९७० से हो रहा है। इसी क्रम में भारतीय भाषाओं की विविध विधाओं की श्रेष्ठ रचनाओं के हिंदी संकलन 'भारतीय साहित्यमाला' नामक योजना के अंतर्गत प्रकाशित किए जा रहे हैं।

प्रकाशन योजना के ही अंतर्गत यूनेस्को की ओर से विश्व की ३३ प्रमुख भाषाओं में प्रतिमाह प्रकाशित अंग्रेजी पत्रिका 'यूनेस्को कूरियर' के हिंदी संस्करण 'यूनेस्को दूत' का प्रकाशन भी निदेशालय द्वारा १९७६ से किया जा रहा है। इस पत्रिका में विश्व की प्रमुख समस्याओं का दिग्दर्शन तथा बहुमूल्य शोधपरक सामग्री होती है।

मानव संसाधन विकास मंत्रालय की सिफारिश पर 'इंदिरा गाँधी और हिंदी' नामक पुस्तक के प्रकाशन की योजना निदेशालय को सौंपी गई है। इस पुस्तक के लिए अनेक विद्वानों से लेख प्राप्त हो चुके हैं और श्रीमती गाँधी के संबंधित भाषणों को भी संकलित किया जा चुका है। पांडुलिपि का संपादन कार्य चल रहा है।

हिंदी शिक्षा समिति की बैठक के निर्णयानुसार 'हू-इज-हू' नामक योजना के अन्तर्गत हिंदी सेवियों का इतिवृत्त प्रकाशित करने का काम भी केंद्रीय हिंदी निदेशालय द्वारा किया जा रहा है।

हिंदी के माध्यम से दक्षिण भारतीय भाषाएँ सीखने के लिए निदेशालय ने चार हिंदी मूलक स्वयं शिक्षक (यथा, तमिल, मलयालम, कन्नड और तेलुगु स्वयं शिक्षक) प्रकाशित किए थे। इनका अब पुनर्मुद्रण हो चुका है। इसके अतिरिक्त अहिंदी भाषी क्षेत्रों के हिंदी विद्यार्थियों और विदेशी विद्यार्थियों की सुविधा के लिए निदेशालय ने अंग्रेजी में 'बेसिक ग्रामर ऑफ मार्डन हिंदी' नामक पुस्तक प्रकाशित की है जो देश और विदेश में बहुत लोकप्रिय हुई है।

निदेशालय द्वारा प्रतिवर्ष हिंदी के प्रचार-प्रसार के लिए अहिंदी भाषी क्षेत्रों के विश्वविद्यालयों, कॉलेजों, पुस्तकालयों, और स्वैच्छिक संस्थाओं तथा विदेश स्थित भारतीय दूतावासों को हिंदी की पुस्तकें तथा पत्रिकाएँ खरीदकर निःशुल्क वितरित की जाती हैं। अब तक लगभग आठ लाख पुस्तकें निःशुल्क वितरित की जा चुकी हैं। वर्ष १९८६-८७ में थोक खरीद योजना के अंतर्गत लगभग १० लाख रुपये की पुस्तकें-पत्रिकाएँ खरीदी गईं।

मानव संसाधन विकास मंत्रालय के अधीन पुनर्गठित 'हिंदी शिक्षा समिति' शिक्षा में हिंदी माध्यम, हिंदी शिक्षण तथा हिंदी के प्रचार-प्रसार आदि मामलों में मानव संसाधन विकास मंत्रालय को सलाह देती है। इस समिति का सचिवालयीन कार्यालय दिसम्बर १९८६ से

केंद्रीय हिंदी निदेशालय में हस्तांतरित कर दिया गया है और निदेशालय के निदेशक इसके सदस्य सचिव है।

विविध अनुसंधान एवं सर्वेक्षण योजनाओं के अंतर्गत निदेशालय द्वारा हिंदी वर्तनी एवं परिवर्धित देवनागरी लिपि के मानकीकरण के क्षेत्र में पर्याप्त कार्य किया गया है। राजभाषा हिंदी के बोलचाल के स्वरूप का सर्वेक्षण नामक योजना के अंतर्गत हिंदी भाषी क्षेत्रों का सर्वेक्षण कार्य लगभग पूर्णतया की ओर है। यह सर्वेक्षण कार्य सात संदर्भों (कृषि, पुलिस, विधि, स्वास्थ्य, शिक्षा, प्रशासन, डाक-तार और बैंक) तथा ४ स्तरों (केंद्र, राज्य, जिला और स्थानीय स्तरों) पर किया जा रहा है। अहिंदी भाषी राज्यों के सरकारी कार्यालयों का सर्वेक्षण और कंप्यूटर तथा अन्य प्रकार से इस सामग्री का विश्लेषण एवं प्रकाशन का कार्य आगामी वर्षों में पूरा किया जाएगा।

हिंदी के साथ-साथ निदेशालय द्वारा सिंधी भाषा के प्रचार-प्रसार एवं विकास का कार्य भी किया जा रहा है।

सारांश यह है कि निदेशालय, पत्राचार के माध्यम से हिंदी पढ़ाने तथा विद्यार्थियों की सहायता एवं सुविधा के लिए कैसेट और पुस्तकें आदि तैयार करके जहाँ हिंदी शिक्षण का कार्य कर रहा है। वहीं भारतीय और विदेशी भाषाओं के कोश, वार्तालाप पुस्तिकाएँ आदि प्रकाशित कर भारतीय तथा विदेशी भाषाओं को परस्पर निकट लाने तथा उनमें निहित मूलभूत समानता को खोजने का प्रयास कर रहा है। हिंदीतर भाषी प्रदेशों के हिंदी पढ़ने वाले और हिंदी नवलेखकों, अनुसंधित्सुओं के लिए विविध प्रकार की योजनाएँ निदेशालय द्वारा कार्यान्वित की जाती हैं। इन प्रदेशों की शिक्षण संस्थाओं तथा विदेश स्थित भारतीय दूतावासों को प्रतिवर्ष लाखों रुपये की हिंदी पुस्तकें खरीदकर निःशुल्क वितरित की जाती हैं। इसके अतिरिक्त हिंदी वर्तनी और देवनागरी लिपि के मानकीकरण की दिशा में भी निदेशालय की विशेष भूमिका रही है। इस प्रकार संविधान के अनुच्छेद ३५१ की भावना के अनुसार हिंदी भाषा को विकसित करने तथा उसकी प्रसार वृद्धि करने की दिशा में केंद्रीय हिंदी निदेशालय सतत सक्रिय है।

## पत्रिका सम्बन्धी विवरण

| | |
|---|---|
| पत्रिका का नाम | : **इन्द्रप्रस्थ भारती** |
| प्रकाशन की अवधि | : त्रैमासिक |
| मुद्रक एवं प्रकाशक का नाम | : डॉ. नारायणदत्त पालीवाल |
| राष्ट्रीयता | : भारतीय |
| पता | : सचिव, हिंदी अकादमी, दिल्ली,<br>ए-२६/२७, सनलाइट इन्श्योरेंस बिल्डिग,<br>आसफ अली रोड, नई दिल्ली-११०००२ |
| सम्पादक | : डॉ. नारायणदत्त पालीवाल |
| राष्ट्रीयता | : भारतीय |
| पता | : हिंदी अकादमी, दिल्ली,<br>ए २६/२७ सनलाइट इन्श्योरेंस बिल्डिग, आसफ अली<br>रोड, दिल्ली ११०००२ |
| स्वामित्व | : हिन्दी अकादमी, दिल्ली (दिल्ली प्रशासन)<br>ए-२६/२७ सनलाइट इन्श्योरेंस बिल्डिग, आसफ अली<br>रोड, नई दिल्ली-११०००२ |

मैं डॉ. नारायणदत्त पालीवाल, सचिव, एतद्द्वारा घोषित करता हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरी अधिकतम जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य है।

हस्ताक्षर

**डॉ. नारायणदत्त पालीवाल**

# हिन्दी अकादमी, दिल्ली

# नवोदित लेखक पुरस्कार प्रतियोगिता १९८७

## के लिए

दिल्ली संघ राज्य क्षेत्र के ३० वर्ष की आयु तक के युवा लेखकों और कवियों से
कहानी, कविता तथा एकांकी की नवीन, मौलिक एवं अपुरस्कृत
रचनाएँ आमंत्रित।

**अनिवार्य :**

1. दिल्ली संघ राज्य क्षेत्र में कम-से-कम ३ वर्ष की अवधि का निवास / आवास प्रमाण-पत्र।
२. आयु के लिए जन्म-तिथि प्रमाण-पत्र।
३. कहानी प्रतियोगिता में अनुसूचित जाति/जनजाति तथा पिछड़े व कमजोर वर्ग के लिए अलग से पुरस्कार सुरक्षित। सुरक्षित वर्ग की रचना के साथ जाति प्रमाण-पत्र।
४. एक व्यक्ति द्वारा किसी भी विधा की केवल एक रचना ही स्वीकार्य।
५. शुद्ध तथा स्वच्छ टाइप की हुई रचना की चार प्रतियाँ लेखक की पासपोर्ट साइज की दो फोटो प्रतियों और संक्षिप्त जीवन-परिचय सहित भेजी जाएँ।
६. सभी रचनाएँ पृष्ठ १६० पर छपे प्रपत्र के साथ संलग्न हों।

**विशेष :**

यह प्रतियोगिता दो वर्गों में विभाजित होगी। प्रथम वर्ग २० वर्ष तक की आयु तथा द्वितीय वर्ग २१ से ३० वर्ष तक की आयु के लेखकों के लिए होगा। दोनों वर्गों के पुरस्कार अलग होंगे।

## प्रपत्र

सचिव,
हिन्दी अकादमी,
ए-२६/२७, सनलाइट इंश्योरेंस बिल्डिंग,
आसफ अली रोड,
नई दिल्ली-११०००२

महोदय,

नीचे दिए गए विवरण सहित इस प्रपत्र के साथ **नवोदित लेखक पुरस्कार प्रतियोगिता** १९८७, के लिए कहानी / कविता / एकांकी-नाटक की ............................ नामक रचना भेजी जा रही है :—

१. नाम
२. पिता/पति/अभिभावक का नाम
३. आयु
(जन्म-तिथि प्रमाण-पत्र संलग्न)
४. पता या निवास का स्थान
(आवास प्रमाण-पत्र संलग्न)
५. क्या सुरक्षित वर्ग से संबंधित हैं ?
(यदि हाँ तो जाति प्रमाण-पत्र संलग्न)

## प्रमाण-पत्र

मैं प्रमाणित करता हूँ कि इस पत्र के साथ भेजी जा रही " .............." नामक रचना पूर्णतया नवीन, मौलिक तथा इससे पूर्व अपुरस्कृत है। मैं यह भी प्रमाणित करता हूँ कि यह रचना इस प्रतियोगिता के अतिरिक्त पुरस्कार हेतु कहीं अन्यत्र नहीं भेजी गई है, और न ही इस प्रतियोगिता के निर्णय तक कहीं भेजी जायेगी। मेरे द्वारा इस प्रतियोगिता में इसके अतिरिक्त कोई अन्य रचना नहीं भेजी गई है।

मुझे प्रतियोगिता के सभी नियम व शर्तें मान्य हैं। इसका निर्णय भी मुझे स्वीकार्य होगा।

मैं यह प्रमाणित करता हूँ कि ऊपर दी गई सूचना एवं तथ्य मेरी जानकारी के अनुसार पूर्णतः सत्य व सही हैं।

हस्ताक्षर

---

१. प्राप्ति की अंतिम तारीख १५ मार्च, १९८८ है।
२. प्रतियोगिता से संबंधित अन्य जानकारी व नियमावली अकादमी के कार्यालय से प्राप्त की जा सकती है।
३. रचनाएँ उक्त परिपत्र के साथ अन्य सभी आवश्यक और अपेक्षित प्रमाण-पत्रों आदि सहित ही प्रतियोगिता के लिए मान्य होंगी, अन्यथा प्रतियोगिता में सम्मिलित नहीं की जा सकेंगी।

**डॉ. नारायणदत्त पालीवाल**
सचिव, हिन्दी अकादमी, दिल्ली

आवरण पृष्ठ 2 से—

३२. पाण्डुलिपि संग्रह व प्रकाशन

३३. त्रैमासिक साहित्यिक पत्रिका 'इन्द्रप्रस्थ भारती' का प्रकाशन

३४. उत्कृष्ट बाल-साहित्य को प्रोत्साहन व उसका प्रकाशन

३५. दिल्ली के लोक-गीतों, कहानियों व अन्य साहित्य का संग्रह व प्रकाशन

३६. हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए अन्य प्रकाशन

३७ पुस्तकालय व वाचनालय (केन्द्रीय तथा क्षेत्रीय पुस्तकालयों और वाचनालयों की स्थापना)

३८. हिन्दी केन्द्रों की स्थापना —(हिन्दी टाइप, आशुलिपि तथा हिन्दी भाषा के अध्यापन/प्रशिक्षण के लिए)

३९. भाषा कार्यशाला योजना—(हिन्दी अनुवाद,हिन्दी टिप्पणी-आलेखन के प्रशिक्षण के लिए)

४०. अनुवाद योजना—(हिन्दी भाषा के उत्कृष्ट साहित्य का अन्य भारतीय भाषाओं तथा अन्य भारतीय भाषाओं के उत्कृष्ट साहित्य का हिन्दी में अनुवाद)

४१. मासिक छात्रवृत्ति योजना

४२. भेंटवार्ता तथा भाषा विषयक परिचर्चा

४३. साहित्यकारों से साक्षात्कार तथा टेप तैयार करना

४४. प्रतिभाओं की खोज

४५. हिन्दी फ़िल्म योजना —(राष्ट्रीय एवं भावात्मक एकता के पोषण तथा भारतीय संस्कृति के प्रचार के लिए)

४६. आलोक पर्व—हिन्दी कार्यकर्ता सम्मेलन का आयोजन

४७. बैंक राजभाषा सम्मेलन का आयोजन

४८. हिन्दी शिक्षक पुरस्कार योजना

४९. २० सूत्रीय योजना के अन्तर्गत विशेष कार्यक्रमों का आयोजन (पिछड़े और ग्रामीण क्षेत्रों में)

५०. साहित्यकार भ्रमण योजना, (हिन्दी के प्रचार व प्रसार तथा आपसी आदान-प्रदान व खोज के लिए)

५१. साहित्यकार सान्निध्य संगोष्ठी

५२. हिन्दी मेला व प्रदर्शनी (हिन्दी दिवस के अवसर पर)

५३ वैज्ञानिक तथा अन्य तकनीकी व आधुनिक विषयों पर हिन्दी साहित्य सृजन को प्रोत्साहन

५४. छात्रों व जन सामान्य में राष्ट्रीय एकता तथा देश प्रेम की भावना को विकसित करने के लिए आदर्श साहित्य का सृजन व निर्माण

५५. हिन्दी छात्र मंच योजना

५६. हिन्दी अनुसंधान योजना

५७. हिन्दी सम्पर्क सेवा

५८. हिन्दी आशुलेखन योजना

५९. हिन्दी वीडियो प्रशिक्षण योजना और

६०. प्रचार व प्रसार सम्बन्धी।

# हिन्दी अकादमी, दिल्ली
# की
# महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ

## आर्थिक सहयोग व सहायता

**साहित्यकार सहयोग** : विपत्तिग्रस्त या जरूरतमन्द साहित्यकारों अथवा उनके परिवार के आश्रितों को सहायता प्रदान की जाती है।

**छात्र सहयोग** : छात्रों को अध्ययन अथवा शोध-कार्य के लिए आर्थिक सहयोग प्रदान किया जाता है।

**संस्था सहयोग** : हिन्दी के विकास एवं प्रचार और प्रसार के कार्य में संलग्न स्वयंसेवी संस्थाओं आदि को सहयोग प्रदान किया जाता है।

**स्कूल व कॉलिजों को सहायता** : स्कूल और कॉलिजों में हिन्दी की प्रतियोगिताओं, गोष्ठियों, सम्मेलनों आदि कार्यक्रमों के आयोजन के लिए सहायता प्रदान की जाती है।

**प्रकाशन सहयोग** : लेखकों को उनकी पाण्डुलिपियों के प्रकाशन के लिए आर्थिक सहयोग प्रदान किया जाता है।

**लघु पत्र-पत्रिका सहयोग** : लघु पत्र-पत्रिकाओं को भी विज्ञापन देकर सहयोग दिया जाता है।

**अधिक जानकारी के लिए सम्पर्क करें :**

**सचिव**,
हिन्दी अकादमी, दिल्ली,
ए-२६/२७, सनलाइट इंश्योरेंस बिल्डिंग,
आसफ अली रोड़,
नई दिल्ली—११०००२

डॉ. नारायणदत्त पालीवाल, सचिव, द्वारा हिन्दी अकादमी, दिल्ली के लिए प्रकाशित तथा शांति मुद्रणालय, गली नं. ११, विश्वास नगर, दिल्ली-११००३२ में मुद्रित।